"प्रेमचन्द के विवेचनात्मक गद्य में भारतीय समाज की समीक्षा"

(एम.फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध)

शोध-निर्देशक

प्रो. मैनेजर पाण्डेय

शोधकर्ता

जितेन्द्र कुमार श्रीवास्तव

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली - 110 067

1998

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI - 110067

~~30 जून 1998~~
२ जुलाई 1998

प्रमाण - पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री जितेन्द्र कुमार श्रीवास्तव द्वारा प्रस्तुत "प्रेमचन्द के विवेचनात्मक गद्य में भारतीय समाज की समीक्षा" शीर्षक लघु शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त सामग्री का इस विश्वविद्यालय अथवा किसी अन्य विश्वविद्यालय में इसके पूर्व किसी भी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है । यह सर्वथा मौलिक कृति है ।

(प्रो. मैनेजर पाण्डेय)
शोध-निर्देशक
भारतीय भाषा केन्द्र

(प्रो. मैनेजर पाण्डेय)
अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र

GRAM : JAYENU TEL. : 667676, 667557 TELEX : 031-73167 JNU IN

समर्पण

प्रातः स्मरणीय पिता जी
और अमर शहीद का. चन्द्रशेखर के
मनुष्यधर्मी स्वप्नों को
याद करते हुए
माँ, भाभी, रजत, साहिल, पुरवा बेटे
और
सेण्ट एण्ड्रयूज कालेज गोरखपुर के
कर्ममय सुखद –स्वप्निल दिनों के लिए

हद चले सो मानवा बेहद चले सो साध
हद बेहद दोनों तजे ताकर मता अगाध।

अनुक्रम

	पृष्ठ संख्या
भूमिका : ढाई आखर प्रेम का	1 - 5
प्रथम अध्याय -	6 - 32
स्त्री समस्या और प्रेमचन्द :	
`पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं `	
द्वितीय अध्याय -	33 - 60
छूत-अछूत समस्या और प्रेमचन्द :	
`मुई खाल की स्वांस सौं सार भस्म हो जाय`	
तृतीय अध्याय -	61 - 86
हिन्दू-मुस्लिम समस्या और प्रेमचन्द :	
`रहिमन धागा प्रेम का मत तोड़ो चटकाय`	
चतुर्थ अध्याय -	87 - 105
किसान समस्या और प्रेमचन्द :	
`हिया जरत रहत दिन-रैन`	
पंचम अध्याय -	106 - 114
उपसंहार	
`उक्तारं हे कुछ कैदी, कुछ तोड़ रहे हैं जंजीरें `	
परिशिष्ट	115 - 119
आधार ग्रन्थ	
सहायक ग्रन्थ	
पत्रिकाएं	

भूमिका

ढाई आखर प्रेम का

जब हम भारतीय समाज जैसे विशिष्ट पद का प्रयोग करते हैं तो हमारे मस्तिष्क में यह बात बिल्कुल साफ होती है कि भारत किसी एक जाति, धर्म अथवा संस्कृति का राष्ट्र नहीं है । यह राष्ट्र उन सब का है, जिन्होंने इसकी धरती पर जन्म लिया और इसकी धूल-माटी-हवा-पानी में खेल-कूद कर बड़े हुए हैं या हो रहे हैं । कोई एक धर्म व जाति संख्या के आधार पर सिर्फ अपने को `भारतीय समाज` जैसी संज्ञा से अभिहित नहीं कर सकती । भारतीय समाज उन सब से मिलकर बनता है जो मानते हैं कि `हिन्दी हैं हम, वतन है हिन्दोस्तां हमारा` । अपने एम. फिल. के शोध-प्रबन्ध के शीर्षक में `भारतीय समाज` पद का प्रयोग करतेहुए मेरे मन-मस्तिष्क में ऐसी ही अवधारणा रही ।

एम. फिल. में प्रवेश पाने के बाद जब लघु शोध-प्रबन्ध के लिए विषय चयन का समय आया तो मेरे समक्ष कई विषय थे । जाहिर है, ये विषय अलग-अलग लेखकों और अवधारणाओं से सम्बन्धित थे । इन्हीं लेखकों में प्रेमचन्द का साहित्य भी था । जब मैंने प्रेमचन्द पर अपने को केंद्रित करके सोचना शुरू किया तो लगा कि प्रेमचन्द पर बहुत काम हो चुका है, कुछ और देखना चाहिए । यही बात जब मैंने अपने गुरु प्रो. मैनेजर पाण्डेय को बताई तो उन्होंने मेरा ध्यान प्रेमचन्द के विवेचनात्मक गद्य की ओर खींचा । यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि प्रेमचन्द के लेखन के इस भाग पर कोई काम नहीं हुआ है जबकि अपने लेखों-टिप्पणियों में उनका स्वर बिल्कुल साफ है । फिर तो मुझे रास्ता और विषय दोनों मिल गए । लेकिन विषय मिलना ही पर्याप्त न था, समस्या शीर्षक की भी थी । मैंने अपने अध्ययन के दौरान यह पाया कि प्रेमचन्द की दृष्टि किसी एक जाति अथवा धर्म पर न होकर पूरे भारतीय समाज पर है । वे सम्पूर्णता में भारत का उत्थान चाहते थे और इसके लिए उन्होंने भारतीय समाज का सूक्ष्म अध्ययन

करते हुए न सिर्फ उसकी कमजोरियों को रेखांकित किया, बल्कि समस्याओं का हल भी सुझाया । अत: मुझे लगा कि शीर्षक भारतीय समाज से जोड़कर बनाना चाहिए और मैंने 'प्रेमचन्द के विवेचनात्मक गद्य में भारतीय समाज की समीक्षा' शीर्षक के अन्तर्गत शोध-विषय पर कार्य आरम्भ किया ।

प्रेमचन्द अकेले ऐसे लेखक-चिन्तक हैं, जिन्होंने अपने समय की ज्वलंत समस्याओं पर विचार करते हुए भविष्य के विषय में जो बातें लिखीं, वे बहुत हद तक सत्य सिद्ध हुईं और हो रही हैं । उन्होंने गहराई में जा कर स्त्री-समस्या, दलित-समस्या, हिन्दू-मुस्लिम समस्या और किसान-समस्या पर विचार किया । इनके विषय में समाज और सरकार के व्यवहार के प्रति समीक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए उन्होंने इनके निदान का रास्ता भी बताया । कहने की आवश्यकता नहीं कि आज भी ये समस्याएं मुंह-बाये खड़ी हैं और ऐसे में प्रेमचन्द के विवेचनात्मक लेखन की प्रासंगिकता बहुत बढ़ गयी है ।

इस लघु शोध-प्रबन्ध को सुविधा की दृष्टि से चार अध्यायों में विभाजित किया गया है । पहले अध्याय में स्त्री समस्या पर विचार किया गया है और इसका शीर्षक है -'पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं ।' इस अध्याय में 'आधी आबादी' की समस्याओं पर प्रेमचन्द के लेखन की पड़ताल करने की कोशिश की गई है । दूसरे अध्याय में 'छूत-अछूत समस्या' पर विचार किया गया है और इसका शीर्षक है -'मुई खाल की स्वांस सों सार भसम हो जाय ।' इस अध्याय में कोशिश की गई है कि वर्णाश्रम पर आधृत हिन्दू-समाज के इस निन्दनीय पक्ष का खुलासा हो सके । तीसरे अध्याय में 'हिन्दू-मुस्लिम समस्या' पर विचार किया गया है और इसका शीर्षक है -'रहिमन धागा नेह का मत तोड़ो चटकाय ।' इस अध्याय में हिन्दुओं-मुस्लिमों के बीच सदियों से चले आ रहे सौमनस्य और प्रेम के आधार को ढूंढने की कोशिश की गई है । चौथे अध्याय में 'किसान समस्या' पर विचार किया गया है और इसका शीर्षक है -'हिया जरत रहत दिन-रैन ।' इस अध्याय में किसानों की दयनीय स्थिति और उसको दूर करने

के विकल्पों की पड़ताल करने की कोशिश की गई है । इसके अतिरिक्त पांचवां अध्याय `उपसंहार` के रूप में है और इसका शीर्षक है - `उकताए हैं कुछ कैदी, कुछ तोड़ रहे हैं जंजीरें ।`

और अब जबकि यह लघु शोध-प्रबन्ध पूरा हो चुका है, पीछे मुड़ कर देखना मेरा नैतिक दायित्व है । यह शोध-प्रबन्ध मेरे गुरु प्रो. मैनेजर पाण्डेय के निर्देशन में पूरा हुआ है । एम. ए. और एम.ए. के बाद यह शोध-कार्य करते हुए उनके करीब जाने का मौका मिला । उन्होंने जिस प्रकार से मेरी बौद्धिक समस्याओं और शोध-कार्य में रुचि ली, वह आज के समय में दुर्लभ सी बात होती जा रही है । गुरु की इस आकाशधर्मिता को व्यक्त करने के लिए मेरे पास उचित शब्द नहीं हैं । जीवन में अपने से हट कर अगर कुछ भी अच्छा कर सका तो समझूंगा कि गुरु का आशीर्वाद व्यर्थ नहीं गया । आज तो गुरु के स्नेह को नमन ही कर सकता हूं, कोई आभार व्यक्त करके या कृतज्ञता ज्ञापित करके गुरु के ऋण से मुक्त नहीं हो सकता ।

प्रो. मैनेजर पाण्डेय के अतिरिक्त जिन गुरुजनों का स्नेह-सहयोग और आशीर्वाद मुझे लगातार मिलता रहा है, उनमें प्रो. केदारनाथ सिंह, प्रो. परमानन्द श्रीवास्तव, प्रो. कृष्णचन्द्र लाल, प्रो. रामदेव शुक्ल, प्रो. विश्वनाथ प्र. तिवारी, श्री शरतचन्द्र अग्रवाल, श्रीमती प्रभा सिंह, डा. वीर भारत तलवार, डा. पुरुषोत्तम अग्रवाल, डा. सुधेश, डा. रेखा अवस्थी एवं डा. चन्द्रा सदायत का मैं विशेष रूप से आभारी हूं । यद्यपि कि आभार व्यक्त करना महज एक औपचारिकता बन गयी है । आज गुरुजनों के प्रति आभार व्यक्त करते हुए पिता के समान स्नेह और मार्गदर्शन देने वाले अपने गुरु श्री कन्हैया ओझा को मैं विशेष रूपसे याद करना चाहता हूं । जे.एन.यू. के बौद्धिक-सांस्कृतिक माहौल तक मुझे पहुंचाने का पूरा श्रेय उन्हीं को जाता है । आज भी मेरी छोटी से छोटी सफलता पर वे वैसे ही प्रमुदित होते हैं, जैसे पिता अपने पुत्र की सफलता पर होते हैं । मैं अपने को सौभाग्यशाली मानता हूं कि श्री ओझा जी जैसे गुरु मिले । आज उन के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करके मैं उन के स्नेह और आशीर्वाद का अपमान नहीं

कर सकता ।

नाना-नानी, मां और पिता जी के बाद मेरे जीवन में जिन दो व्यक्तियों का सर्वाधिक योगदान है, वे हैं मेरे बड़े भाई श्री ज्ञानेश्वरलाल श्रीवास्तव और मेरे अनुज श्री संदीपराज श्रीवास्तव । संदीप को हम लोग आनन्द कह कर बुलाते हैं । आज मेरे पास जो कुछ भी है, वह इन्हीं का दिया हुआ है । मेरी एम. फिल. की उपाधि से जितनी प्रसन्नता मुझे होगी, उससे कई गुना अधिक मेरे इन दो भाइयों को होगी । मुझे यह लिखने में कोई संकोच नहीं है कि मेरे हिस्से का दु:ख भी अपने दामन में लेकर मेरे भाइयों ने मुझे निरन्तर आगे बढ़ने को प्रोत्साहित किया है । मैं नहीं जानता कि उन की कसौटी पर कितना खरा उतरूंगा, लेकिन जो कुछ भी अच्छा कर सकूंगा उसमें उनका योगदान सर्वाधिक है । मेरे व्यक्तित्व को उन्होंने ही आकार दिया है । मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है जो उन के प्रेम और त्याग के बदले लौटा सकूं ।

आज प्राथमिक पाठशाला सिलहटा में साथ-साथ पढ़े उन चौंसठ मित्रों को भी याद करना चाहता हूं जो आज भी मिलने पर जीवन में उल्लास भर जाते हैं ।आज मांगा कोइर, रुद्रपुर और गोरखपुर के मित्र भी याद आ रहे हैं जो इन जगहों के छूटने के बाद भी मेरे मन में पूर्ववत् बैठे हुए हैं । इन मित्रों में शास्त्री, रामधारी, सत्येन्द्र, प्रवीण, श्रवण, महेश, मनोज, दीपक, बशिष्ठ, संजय, प्रसिद्ध, जितेन्द्र, अरविन्द, धर्मेन्द्र दूबे, तारकेश्वर जी, संतोष जी, राजेश्वरी, चतुरानन, राजशेखर, सुधीर, दिनेश, अभय-राज, मुकुल, विभा उपाध्याय, पूनम तिवारी, अनुराधा, रंजना अग्रहरी, विमलेश प्रदीप, राकेश, धर्मेन्द्र सिंह, मुन्ना, सीरभ, एवं अंशुमान ने मुझे बराबर आत्मबल प्रदान किया है । चूंकि इनका प्रेम कोई 'भार' नहीं है, इसलिए आभार कैसा ! इनको भूलना अपने को भूलने जैसा होगा ।

इस लघु शोध-प्रबन्ध को लिखते हुए और इसको लिखने से पूर्व जिन अग्रजों, मित्रों और सहपाठियों ने स्नेह, सहयोग और प्रेम दिया, उनमें अमर शहीद का. चन्द्रशेखर, डा. देवेन्द्र चौबे, डा. सदानन्द शाही, श्री अनिल राय, डा. राजेश मल्ल, डा. गोपाल प्रधान, श्री देवेन्द्र आर्य,

श्री प्रणय कृष्ण, श्री आशुतोष कुमार, डा. द्वारिका प्रसाद वर्मा, डा. गोविन्द प्रसाद,डॅ.महेश आलोक,डॅ.ज्योतिष जोशी,श्रीमिथिलेश श्रीवास्तव,मनोज कुमा मधुप कुमार, मृगेन्द्र कुमार, अधीर कुमार, प्रमोद सिंह, मुप्ति भाई, अरूप भाई आफताब भाई, सव्यसाचि, अवधेश भाई, रज़ी, मुसरफ, नलिन, प्रशान्त, यतीश जी, अनिल जी, जय कुमार, जयसिंह, चन्द्रशेखर, शिवकुमार, अश्विनी, संजय, प्रकोश, पंकज, रामभूरत, जयकिशन, भरत और जयप्रकाश प्रमुख हैं ।.... मैं इन सब के प्रति आभार व्यक्त करके इन्हें कोई ठेस पहुंचाना नहीं चाहता । ... जयप्रकाश ने बराबर एक बड़े भाई समान मित्र की सहयोगी भूमिका निभाई है ।

गोरखपुर के बाद जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में आया तो श्यामली के बिना यहां का पूरा परिवेश रसहीन और उल्लासविहीन लगता था । उसके बिना यहां की पुरवा-पछुवा हवाएं उदास गुजर जाती थीं । मन बिल्कुल नहीं रम रहा था, ऐसे में जिस एक मित्र ने मुझे जे. एन. यू. के पत्थरों में भटकने से बचा कर निरन्तर रचनात्मक कार्यों की ओर प्रेरित किया, वे कुमार कौस्तुभ हैं । मित्रता में कोई एहसान तो नहीं होता, लेकिन कुमार के इस स्नेह-सहयोग का मैं आजन्म ऋणी रहूंगा । मुझे प्रसन्नता है कि दिल्ली के `कैरियरवादी` माहौल में मुझे एक ऐसा मित्र मिला, जो `हमराज` हो सका । मैं अपने केन्द्र के श्री अनस अहमद, श्री भारत भूषण रावत, सुश्री फरजाना, श्री दुलारे जी एवं पुस्तकालय के श्री मलिक साहब का भी आभार हूँ, जिन्होंने बराबर सहयोगी भूमिका निभाई है ।

222, फेलम
जे. एन. यू., नई दिल्ली-67

जितेन्द्र श्रीवास्तव

प्रथम अध्याय

स्त्री समस्या और प्रेमचन्द

पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं

भारतीय समाज स्त्री के विषय में सदा से प्रपंचवादी रहा है। एक ओर सिद्धान्त (शास्त्र) में ऊंचे आदर्शों की बात और जीवन में हर पल दमन। पुरुष प्रेम कहकर स्त्री को जो देता आया है, वह भी उसका स्वार्थ ही है। कभी देह की इच्छा, कभी सेवा की, यही पुरुष का चरित्र रहा है। स्त्री से त्याग चाहिए, समर्पण चाहिए, बदले में वह कुछ भी न चाहे, यह भी चाहिए। पुरुष लम्पट बना रहे, वण्ड बना घूमता रहे, लेकिन स्त्री पतिव्रता बनी रहे। पुरुष व्यभिचार करे, कोई बात नहीं, लेकिन स्त्री अपनी इच्छा से प्रेम भी नहीं कर सकती। बचपन में पिता और भाई की, युवावस्था में पति की और वृद्धावस्था में पुत्रों की देख-रेख में ही स्त्री का जीवन बीतना चाहिए। स्वतन्त्र व्यक्तित्व की कल्पना भी स्त्री के लिए पाप है। पति चाहे उसे अग्नि के सुपुर्द कर दे, जुए में हार जाए, अफसरों की बलि चढ़ा दे, पत्नी को मुंह नहीं खोलना चाहिए। उसके पास देह है, जो पति के लिए है और पति को अधिकार है कि उसका जैसे चाहे उपयोग करे। पति अपनी स्त्री के दुःख के विषय में जाने न जाने लेकिन पत्नी को हर संभव कोशिश करके पति को प्रसन्न रखना है। पति ऐय्याश है तो क्या हुआ, वह परमेश्वर है। उसके सुख को ध्यान में रखते हुए पत्नी को चाहिए कि संभोग के क्षणों में वह वेश्या की तरह शर्म त्याग कर समर्पण करे और दिन में चौखट से बाहर कदम भी न रखे। उसका ऐसा करना ही मर्यादा के अनुकूल है। यहां याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि मनुस्मृति में कहा गया है - 'जहां स्त्रियों का वास होता है, वहां देवता निवास करते हैं।' इस कथन के दो अर्थ और भी हो सकते हैं। पहला कि 'ये पुरुष अपने को देवता के समकक्ष मानते हैं। संभवतः पति-परमेश्वर की धारणा का विकास ऐसे ही हुआ होगा। पति तो परमेश्वर होता है, लेकिन पत्नी कभी नारायणी

का रूप नहीं मानी गयी, जिसके कदमों में पति झुक जाए । वह तो हाड़-मांस की एक संरचना है जो पुरुष के सुख के लिए बनाई गई है । ऐसे लगता है जैसे पुरुष पूरी सृष्टि का भार अपने कन्धों पर लिए फिर रहा हो । वह स्त्री को लक्ष्मी कहता है तो उसे भ्रम में ही डालता है । स्त्री लक्ष्मी ही तो हुई, जब वह मायके से दहेज लाती है और ससुराल में पहुंच कर पति के धन में वृद्धि करने के साथ-साथ उसकी सुरक्षा भी करती है ।'

दूसरा अर्थ यह कि 'इन देवताओं को भी स्त्रियां चाहिएं, इसलिए वे जहां होती हैं, वहीं इनका वास हो जाता है । कई पौराणिक मिथक इसके उदाहरण हैं ।' कहने की आवश्यकता नहीं कि सदियों से 'स्त्री उपेक्षिता' ही रही है । आजकल स्त्री की स्थिति में सुखद बदलाव आ रहा है । उन्होंने जंजीरों को तोड़ना शुरू कर दिया है । लेकिन सन् 1936 तक भारतीय समाज में, खास कर हिन्दू समाज में स्त्री की क्या स्थिति थी, और तब के लेखक-चिन्तक इस विषय में क्या सोच रहे थे, यह एक महत्व-पूर्ण प्रश्न है ।

प्रेमचन्द का लेखन सन् 1900 ई० के आसपास शुरू हुआ और 1936 तक अबाध-गति से चलता रहा । यह समय भारतीय समाज में स्त्रियों और दलितों के लिए दोहरी गुलामी का समय था । निराला ने ठीक ही लिखा था कि हमारे समाज में स्त्रियां दासों की दासियां हैं । यह वह समय था जिसमें स्त्रियां एक साथ उपनिवेशवाद और सामन्तवाद की चक्की में पिस रही थीं । यह राजनीतिक और मानसिक दासता का कारुणिक इतिहास है । दुनिया भर के इतिहास में यह खोजना मुश्किल नहीं है कि जो भी समाज गुलाम रहा, उसकी स्त्रियों ने सर्वाधिक दंश झेला । सामन्ती समाज में प्रतिद्वन्द्वी पर अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए या उसको नीचा दिखाने के लिए उसकी स्त्री का अपहरण सबसे प्रिय अस्त्र था । आज भी इस देश में सामन्ती मानसिकता का अन्त नहीं हुआ है और लोग-बाग 'स्त्री-अपहरण' के इस अस्त्र का उपयोग करते हैं । कश्मीर में हिन्दू

स्त्रियों के साथ और गुजरात में मुस्लिम स्त्रियों के साथ हुए दुराचार में इस मानसिकता का ही हाथ है ।

मानव सभ्यता के इतिहास में शायद ही कोई ऐसी जाति मिले, जो पराधीनों के लिए उदार रही है । यहां यह कहने में संकोच नहीं है कि `संस्कृति के दस्तावेज प्राय: बर्बरता के भी दस्तावेज होते हैं ।` वाल्टर बेंजामिन ने जब यह उपर्युक्त वाक्य लिखा होगा तो उन के मस्तिष्क में गुलामों की स्थिति अवश्य रही होगी । गुलामी सबसे बड़ा अभिशाप होता है, वह सामाजिक-राजनीतिक हो अथवा शारीरिक-मानसिक । स्त्रियों के विषय में कई निन्दनीय पंक्तियां लिखने वाले तुलसीदास ने भी स्त्री की पराधीनता पर बड़ी मार्मिक पंक्तियां लिखी हैं --

`कत विधि सृजी नारि जग माहीं ।
पराधीन सपनेहु सुख नाहीं ।।`

यह भीतर तक कंपकंपी पैदा करने वाली पंक्तियां विश्व साहित्य में स्त्री की पराधीनता पर लिखी श्रेष्ठ रचनाओं में से हैं । पराधीनता सपने में भी सुख की कल्पना नहीं करने देती । प्रेमचन्द इस दु:ख से परिचित थे । वे जानते थे कि `आधी आबादी` को पीछे छोड़ कर भारतीय समाज का कोई विकास संभव नहीं है। जिस प्रकार हमें अपनी आजादी और अपने सुख की चिन्ता है, उसी प्रकार हमें स्त्रियों की भी चिन्ता करनी होगी । उन्हें इस स्थिति में पहुंचाना होगा कि वे स्वयं अपनी चिन्ता कर सकें । इसके लिए प्रेमचन्द स्त्री की शिक्षा को बहुत जरूरी मानते थे । दहेज के प्रसंग में लिखते हुए अपने एक लेख में उन्होंने लिखा कि -`हमें तो इसका एक ही इलाज नजर आता है और वह यह, कि लड़कियों को अच्छी शिक्षा दी जाए और उन्हें संसार में अपना रास्ता आप बनाने के लिए छोड़ दिया जाय, उसी तरह जैसे हम अपने लड़कों को छोड़ देते हैं । उनको विवाहित देखने का मोह हमें छोड़ देना चाहिए और जैसे युवकों के विषय में उनके पथभ्रष्ट हो जाने की परवाह नहीं करते, उसी प्रकार हमें लड़कियों पर भी विश्वास करना चाहिए ।`[1] यहां दो बातें

---

1. विविध प्रसंग - भाग 3 - संपादक अमृतराय, पृ0 260, `एक दुखी नारी`

बिलकुल साफ हैं - एक तो दहेज जैसी अमानवीय प्रथा से उत्पन्न क्षोभ और उसको सदा के लिए समाप्त करने का एक संकल्प-मार्ग, और दूसरा - सदियों से पुरुष स्त्री को सिर्फ घर के भीतर रहने वाली जीव के रूप में देखते और उनकी शारीरिक कमजोरी का बहाना करते रहे हैं। पुरुष को सदा से लगता रहा है कि `स्त्री अबला है। वह कोमलांगी होती है। बाहर का संसार उसके लिए ठीक नहीं होता है।` कहने का आशय यह कि लम्बे समय से स्त्री के मन और तन की कोमलता को पुरुष ने अपने स्वाधिकार के लिए हथियार के रूप में इस्तेमाल किया है। उसे बराबर डर लगता रहा है कि उसके साम्राज्य को स्त्रियां जीत न लें और इसके लिए उसे स्त्रियों का बाहर की दुनिया में प्रवेश ही निषिद्ध कर देना सबसे उचित जान पड़ा। जब चाहा, जहां चाहा, जिस खूंटे में चाहा, लड़की को बांध दिया। लड़की को `उफ` तक कहने का सामाजिक अधिकार नहीं। प्रेमचंद अच्छी तरह जानते थे कि `स्त्री और पुरुष का भेद प्राकृतिक से अधिक सांस्कृतिक है।`[1] दुनिया में पुरुष को कहने और करने दोनों का अधिकार प्राप्त है। स्त्रियों को ही `बन्दीजन` की तरह रहना पड़ता है।

प्रेमचन्द स्त्रियों को इस `बन्दीगृह` से बाहर करने और खुले आसमान के नीचे उन्हें उन्हीं की शर्तों पर स्वच्छन्द विचरण करने देने की वकालत करते हैं। वे अच्छी तरह जानते थे कि उनके समय में या आगे आने वाले समय में मनुष्यता का यही तकाजा है। उन्होंने अपने कालजयी उपन्यास `गोदान` में सरोज के मुंह से कहलवाया है -`हम पुरुषों से सलाह नहीं मांगतीं। अगर वह अपने बारे में स्वतन्त्र हैं, तो स्त्रियां भी अपने बारे में स्वतन्त्र हैं। युवतियां अब विवाह का पेशा नहीं करना चाहतीं। वह केवल प्रेम के आधार पर विवाह करेंगी।`[2] यह कथन इस बात को और स्पष्ट करता है कि यह

---

1. प्रो. मैनेजर पाण्डेय, एक कक्षा - व्याख्यान से।
2. गोदान, पृ0 138

चेतना शिक्षा और अपने अधिकारों के प्रति सचेत होने से ही आई है । स्त्री शिक्षा पर प्रेमचन्द ने अपने एक अन्य लेख `कुमारी शिक्षा का आदर्श' में लिखा है कि -`मुश्किल तो यह है कि पुरुषों ने महिलाओं को इतना सताया है कि अब वे माताएं और गृहिणी न बनकर अपनी आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करने पर तुली हुई हैं । अगर पुरुष बच्चे पालना और भोजन पकाना नहीं जानते, तो स्त्री क्यों सीखे । जो विद्या पढ़कर पुरुष रोटी कमाता है, और इसीलिए औरतों को अपनी लौंडी समझता है, वही विद्या स्त्रियां भी सीखना चाहती हैं । वह खाना क्यों पकाएं, वकालत क्यों न करें, अध्यापिका क्यों न बनें ? इसका फैसला हमारी देवियों को ही करना चाहिए कि उनकी कन्याएं कैसी शिक्षा पाएं, स्वार्थी पुरुषों का फैसला वह क्यों मंजूर करने लगीं ।'[1] यह प्रेमचन्द की विस्तृत जीवन-दृष्टि का एक जोरदार उदाहरण है । प्रेमचन्द की स्पष्ट धारणा थी कि लड़कियों को जीवन के तमाम अधिकार मिलने चाहिएं । उनकी दृष्टि में लड़की की राय जाने बिना या दहेज न दे पाने की मजबूरी में किया हुआ बेमेल विवाह `निर्मला' की नियति प्राप्त करता है अथवा `रूपा' की स्थिति में चला जाता है । दहेज रूपी कुव्यवस्था पूंजीवाद की ही देन है । यद्यपि सामन्ती दौर में भी इसका प्रचलन था, लेकिन पूंजी के जोर ने इसे और अधिक विकृत बना दिया है । यहां विलियम मारिस के शब्दों में कहना पड़ेगा कि `पूंजीवाद सिर्फ गलत व्यवस्था ही नहीं है, बल्कि मनुष्य विरोधी व्यवस्था भी है ।' अशिक्षा और गरीबी के ही कारण बाल-विवाह और बेमेल-विवाह सम्पन्न होते हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों का अन्त दु:खद होता है । बेमेल-विवाह में तो साथ भी दु:खद होता है । प्रेमचन्द ने निर्मला, सेवासदन, गोदान और कई अन्य रचनाओं में इसका मार्मिक चित्रण किया है । इतना ही नहीं, अपने एक लेख `कायस्थ कान्फ्रेंस' में उन्होंने लिखा है -`अब तो इस अनीति की कोई दवा है तो यही कि

---

1. विविध प्रसंग - भाग 3, पृ0 266

बालिकाएं स्वयं अपना भाग्य अपने हाथ में ले लें और विवाह-बन्धन में उस वक्त तक न पड़ें जब तक कोई ऐसा वर न मिले जो प्रेम-भाव से उनके सामने माथा न टेके । जब बालिकाओं में यह आत्म-सम्मान उदय होगा, तभी उस जाति का उद्धार होगा ।'[1] 'गोदान' की सरोज का कथन प्रेमचन्द के इसी कथन का कथा-विस्तार है ।

प्रेमचन्द को बराबर लगता रहा कि पुरुष और स्त्री के अधिकारों में बहुत असमानता है । पुरुष का स्त्री के बिना काम भी नहीं चल सकता और वह उस पर जोर आजमाना भी नहीं भूलता है । उपनिषदों में कहा गया है कि 'यह संसार ईश्वर की कविता है ।' लेकिन इस कविता का छन्द इतना अव्यवस्थित और यह कविता इतनी लयहीन है कि आश्चर्य होता है । स्त्रियों और दलितों के संदर्भ में यह बात पूरी दुनिया में देखी जा सकती है । कहीं दलित जाति के रूप में हैं, कहीं काले के रूप में । सदियों तक ये दोनों (स्त्रियां और दलित) धरती पर जन्म लेने के अपराध के दण्ड स्वरूप अपने को घटाते-गलाते रहे हैं । धीरे-धीरे जिन जिन देशों में जागृति आई, वहां-वहां इन्हें मनुष्य समझा गया और इन्हें पता चला कि इनका भी इस धरती पर, इस धरती की प्राकृतिक-भौतिक सम्पदा पर उतना ही अधिकार है, जितना मालिक कहलाने वाले व्यक्तियों या जातियों का है । भारत में प्रेमचन्द ऐसी ही जागृति के लेखक हैं । फरवरी 1931 में लिखे अपने एक लेख -'नारी-जाति के अधिकार' में उन्होंने लिखा -'पुरुषों ने नारी-जाति के स्वत्वों का अपहरण करना शुरू किया, लेकिन राष्ट्रीयता और सद्बुद्धि की जो लहर इस समय आई हुई है, वह इन तमाम भेदों को मिटा देगी और एक बार फिर हमारी माताएं उसी ऊंचे पद पर आरूढ़ होंगी जो उनका हक है ।'[2] इस कथन में प्रेमचन्द एक ओर तो स्त्री की आजादी का प्रश्न उठाते हैं, आने

---

1. विविध प्रसंग - भाग 3, पृ० 256
2. वही, पृ० 249

वाले समय में उसकी प्रबल आशा करते हैं और दूसरी ओर `एक बार फिर` जैसे जुमले का प्रयोग करते हैं । `एक बार फिर` तो तब होगा, जब पीछे हुआ हो, अन्यथा पहली बार होगा । और पीछे `स्त्री` को जो अधिकार प्राप्त था, वह सर्वविदित है । स्मृतियों और पुराणों में या तो स्त्री की वन्दना की गई है या उसे महज भोग्या समझा गया है । कहीं उसे `मनुष्य` भी समझा गया हो तो यह बात हमारे लिए गर्व की हो सकती है । सूरदास की गोपियां लोगों को स्त्रियां नहीं लातीं । आखिर वे स्त्रियां हों तो `पर्चे` कैसे ! भला हो सूरदास का, जिन्होंने उस सामन्ती दौर में मिथक के सहारे ही स्त्री की स्वतन्त्रता का पता तो लिया । एक बड़ा वर्ग तो आज भी यह साहस नहीं कर पाता । प्रेमचन्द सदिच्छा के बावजूद कई स्थानों पर ऐसे ही पीछे लौट जाते हैं । यद्यपि अपने समकालीनों में स्त्री मुद्दे पर वे सर्वाधिक जागरूक और प्रखर लेखक थे । अपने इसी लेख में वे स्त्रियों के असंतोष को उन्हीं की इच्छानुसार दमन करने की बात करते हैं और कुछ मुद्दे सुझाते हैं --

1. एक विवाह का नियम स्त्री-पुरुष दोनों ही के लिए समान रूप से लागू हो । कोई पुरुष पत्नी के जीवन-काल में दूसरा विवाह न कर सके ।
2. पुरुष की सम्पत्ति पर पत्नी का अधिकार हो । वह उसे रेहन-बय जो कुछ चाहे कर सके ।
3. पिता की सम्पत्ति पर पुत्रों-पुत्रियों का समान अधिकार हो ।
4. तलाक कानून जारी किया जाय और स्त्री-पुरुष दोनों ही के लिए समान हो ।
5. तलाक के समय स्त्री पुरुष की आधी सम्पत्ति पाये और यदि मौरूसी जायदाद हो, तो उसका एक अंश ।`[1]

---

1. विविध प्रसंग - भाग 3, पृ0 250

यहां पर रेखांकित करने योग्य है कि सन् 1931 के समाज में ये बातें कितनी महत्वपूर्ण और क्रान्तिकारी थीं । प्रेमचन्द की बातों को पढ़-सुनकर पुरुष वर्ग कितना खलबलाया होगा, इसकी कल्पना कठिन नहीं है । सिवाय तत्कालीन स्त्री-आन्दोलनों[1] के किसी और लेखक में यह वैचारिक स्पष्टता नहीं दिखती है । यह सुखद है कि तब भी अपने और अपने जैसों के अधिकारों के लिए लड़ने वाली स्त्रियां मौजूद थीं । प्रेमचन्द पर भी इन स्त्रियों के आन्दोलन और लेखन का प्रभाव अवश्य है । क्योंकि स्त्री-दर्पण और गृहलक्ष्मी जैसी पत्रिकाएं स्त्रियों में चेतना जगाने के साथ स्त्री-संगठनों को खड़ा करने की भी बात करती थीं । 'गोदान' में जागरूक स्त्रियों की मीटिंग (गोष्ठी) और 'मीटिंगों' (गोष्ठियों) में होने वाले भाषण देखे जा सकते हैं । 'देह के स्वामित्व और उसकी स्वतन्त्रता का प्रश्न' भी स्त्रियों के मामले में एक प्रमुख प्रश्न है । प्रेमचन्द अपने लेखों के साथ-साथ अपने कथा-साहित्य में भी इस प्रश्न से टकराते हैं । सेवासदन की नायिका सुमन एक स्थिति में पहुंच कर घर छोड़ देती है । आखिर बिना इच्छा के, बिना प्रेम के देह कब तक दुही जाएगी । गोदान की झुनिया अपने प्रेम की शुरुआत में ही कहती है - 'मर्द दूसरी औरत के पीछे दौड़ेगा तो औरत भी जरूर मर्दों के पीछे दौड़ेगी । मर्द का हरजाईपन औरत को उतना ही बुरा लगता है, जितना औरत का मर्द को । यही समझ लो । मैंने तो अपने आदमी से साफ-साफ कह दिया था, अगर तुम इधर-उधर लपके, तो मेरी भी जो इच्छा होगी, वह करूंगी ।'[2]

'स्वेच्छाचारी यौन सम्बन्धों से परिवार ही अस्तित्व में नहीं आ सकता है, जिसका मानव जाति की उन्नति में बहुत बड़ा हाथ रहा है ।'[3]

---

1. स्त्री आन्दोलन - रामेश्वरी नेहरू के 'स्त्री-दर्पण' और तब की 'गृहलक्ष्मी' पत्रिकाओं में छपे लेख ।
2. गोदान, पृ0 44
3. हावर्ड - द्वितीय स्रोत - प्रेमचन्द युगीन भारतीय समाज - डा. इन्द्र-मोहन कुमार सिन्हा, पृ0 264

किसी भी प्रगतिशील समाज में पुरुष या स्त्री किसी का भी प्रेम तो आदरणीय है, लेकिन स्वेच्छाचारिता का पक्ष नहीं लिया जा सकता । यद्यपि प्रेमचन्द अपनी कई आरंभिक कहानियों में स्त्री के प्रेम को भी उचित नहीं ठहरा पाते ।[1] एक ओर अपने लेखों में 'प्रेम' का पक्ष लेते हैं तो प्रेम विवाह की बात करते हैं, तो दूसरी ओर 'विवाह' की परम्परागत विधि को ही वैध ठहराते हैं । स्त्री की स्वतन्त्र रहने की अभिलाषा और पद्धति को पश्चिम का अन्धानुकरण बताते हैं । 'मनोवृत्ति' की नववधू हो अथवा 'जादू' की नीला और मीना । प्रेमचन्द यही चित्रित करते हैं । 'गोदान' में तो मिस्टर मेहता से कहलवाते हैं -"मुझे खेद है, हमारी बहनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं, जहां नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिरकर विलास की वस्तु बन गई हैं । पश्चिम की स्त्री स्वच्छंद होना चाहती है, इसलिए कि वह अधिक से अधिक विलास कर सके । हमारी माताओं का आदर्श कभी विलास नहीं रहा ।"[2] तो क्या हमारी माताओं का आदर्श घर में कुढ़ना और लात-घूंसा खाना रहा है ! 'गोदान' में ही इसके बाद 'सरोज' इनका जवाब भी देती है ।[3] लेकिन पुन: मेहता का 'सेवा' का तर्क और स्वयं प्रेमचन्द का मालती के विषय में अपना वाक्य कि वह 'बाहर से तितली और भीतर से मधुमक्खी है ।'[4] उनके स्त्री विषयक दृष्टिकोण की सीमा है । 'स्त्री धरती के समान है । उसमें अपार सहन-शक्ति है । पुरुष इसमें अदाम है । स्त्री ही पुरुष रूपी नौका को पार लगा सकती है । स्वच्छन्द स्त्रियों से प्रेम किया जा सकता है, विवाह नहीं । नारी में पुरुष के गुण आ जाएं तो वह कुलटा हो जाती है ।' ये तमाम बातें घुमा फिराकर मेहता कई स्थलों पर कहते हैं । यह भारतीय समाज में

---

1. आहुति, हार की जीत, धर्म संकट, मिस पद्मा आदि ।
2. गोदान, पृ० 137
3. वही, पृ० 138 (पृष्ठ 10 पर उद्धृत कथन)
4. वही, पृ० 131

एक शिक्षित की स्त्री के विषय में धारणा है । एक ओर प्रेमचन्द स्त्री शिक्षा और प्रेम पर लेख लिखते हैं और दूसरी ओर मालती जैसी शिक्षित और उन्मुक्त स्त्री को पसन्द नहीं कर पाते । यह उनका अन्तर्विरोध है । एक बड़े रचनाकार का बड़ा अन्तर्विरोध । इसी अन्तर्विरोध से एक बात उभरती है कि प्रेमचन्द बने-बनाए ढांचे के भीतर ही स्त्री की मुक्ति चाहते हैं । चूंकि लेखों में प्रेमचन्द बहुत साफ हैं, इसलिए कथा-साहित्य के विषय में कहा जा सकता है कि रचनाकार के हर पात्र उसके विचारों को व्यक्त करने के माध्यम होते हैं । कोई एक पात्र कभी-कभी ही रचनाकार का प्रवक्ता होता है । और कथा-साहित्य में अभिव्यक्ति की अपनी सीमाएं भी हैं । शायद प्रेमचन्द इन सीमाओं के कारण भी अपने कथा-साहित्य में बहुत स्पष्ट नहीं हो पाए हैं । `धनिया` जैसी स्त्री-चरित्र का सृजन प्रेमचन्द के ही बूते की बात थी । एक बात और, लेखक समय-निरपेक्ष नहीं होता है । समय की सीमाएं एक सीमा के बाद वह नहीं तोड़ पाता । प्रेमचन्द के साथ भी ऐसा ही है ।

विधवा समस्या और विधवा विवाह

प्रेमचन्द युग में विधवाओं की बड़ी दयनीय दशा थी । एक तो स्त्री, ऊपर से विधवा भी । बेचारी ऐसी स्त्री पर दुःख का पहाड़ टूट पड़ता था। अपने को सभ्य कहने वाले लोग अपने `तानों` (व्यंग्य-बाणों) से उस दुखी स्त्री का हृदय छलनी कर देते हैं । बहुत कुछ बदलने के बाद भी, आज भी यह समाज विधवाओं, खास कर युवावस्था में हुई विधवाओं, के प्रति सहानुभूति तो रखता है, लेकिन सहानुभूति का व्यवहार नहीं करता । प्रेमचन्द का संवेदनशील हृदय स्त्री की सोचनीय दशा से बहुत आहत था । अमृतराय ने लिखा है - `अन्याय का नाम लेते ही उनका ध्यान सबसे पहले स्त्री जाति पर जाता है । सबसे ज़्यादा जुल्म का शिकार कौन है । कहने के लिए औरत-मर्द बराबर हैं । सब ढकोसला है । औरत मर्द के पैर की जूती है । बाकी सब कलई-मुलम्मा है ।`[1]

---

1. प्रेमचन्द की प्रासंगिकता, पृ० 56

स्त्री के विषय में अपने समय में ऐसी बेजोड़ समझ रखने वाले प्रेमचन्द ने जुलाई 1933 में एक टिप्पणी लिखी -'अभागिन विधवा' । इस टिप्पणी में उन्होंने अपना प्राण देने को उद्धत एक बाल विधवा का कथन उद्धृत किया है । बस । वह कहती है - 'मैं बाल विधवा हूं । मैं जिन्दगी से तंग आ चुकी हूं । इस दुनिया में नहीं रहना चाहती । तुम लोग मुझे क्यों तंग करते हो, मुझे मर जाने दो ।'[1]

एक तो बाल विवाह, ऊपर से वैधव्य का ताना । प्रेमचन्द दोनों पर टिप्पणी कर जाते हैं । और अक्टूबर 1933 में लिखी टिप्पणी 'विधवाओं के गुजारे का बिल' में साफ-साफ लिखते हैं -'हिन्दू समाज के पतन का मुख्य कारण अगर जाति भेद है तो विधवाओं की दुर्दशा भी उसका ख़ास सबब है ।'[2] इसी टिप्पणी में वे आगे लिखते हैं -'विधवाओं के साथ समाज ने बड़ा किया, और अन्याय को पाल कर कोई समाज सरसबा नहीं हो सकता ।'[3] इस टिप्पणी में वे अपने समय में आए महत्वपूर्ण 'शारदा-बिल' का समर्थन करने की अपील करते हैं, जिससे विधवाओं के जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन हो सके और वे मनुष्य जैसा जीवन जी सकें । प्रेमचन्द विधवाओं के प्रति अपनी समझ और सहृदयता का परिचय देते हुए ही अपनी कहानियों और उपन्यासों में विधवा-जीवन का मार्मिक चित्रण करते हैं, ताकि समाज की इस हृदयहीनता से घृणा की जा सके । 'वरदान' नामक उपन्यास में बृजरानी (विरजन) का पति मर जाता है । पति की मृत्यु के कुछ समय बाद ही उसके श्वसुर को कोई मार डालता है । उसकी सास इन दोनों की मृत्यु को बृजरानी से जोड़ती है । उसका मानना है कि इसके चरण शुभ नहीं हैं । वह कहती है - 'तुम्हारे चिकने रूप ने मुझे ठग लिया । मैं

---

1. विविध-प्रसंग, भाग 3, पृ0 262
2. वही, पृ0 264
3. वही, पृ0 264

क्या जानती थी कि तुम्हारे चरण ऐसे अशुभ हैं ।'[1] आज भी ऐसी अवस्था में युवा-विधवाओं को ऐसे व्यंग्य बाण सहने पड़ते हैं । एक तो 'प्रिय' गया और उस पर से समाज की उलाहना । प्रेमचन्द भारतीय समाज की इस मनोवृत्ति को खूब गहराई तक समझते थे । 'निर्मला' में मुंशी तोताराम अपनी सगी बहन के विषय में कहते हैं -'मैंने तो सोचा था कि विधवा हैं, अनाथ हैं, पाव भर आटा खायेंगी, पड़ी रहेंगी । जब नौकर-चाकर खा रहे हैं, तो यह तो अपनी बहन ही है । लड़कों की देखभाल के लिए एक औरत की जरूरत भी थी, रख लिया । लेकिन इसके यह माने नहीं कि वह तुम्हारे ऊपर शासन करें ।'[2] 'विधवा' होने के बाद अपने सगे भाई की दृष्टि में रुक्मिणी अनाथ हो जाती है और उसे उनके वहां इसलिए जगह मिलती है, क्योंकि बच्चों की सेवा के लिए औरत रखनी ही थी ।'गबन' में सरला रतन के साथ भी कुछ ऐसा ही घटित होता है । पति के मरते ही भतीजा मणिभूषण सारी सम्पत्ति पर कब्जा कर लेता है । वह सरला रतन से कहता है -' ... सम्मिलित परिवार में विधवा का अपने पुरुष की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता... अगर चाचा जी अपनी सम्पत्ति आप को देना चाहते, तो कोई वसीयत अवश्य लिख जाते... आज आप को बंगला खाली करना होगा । मोटर और अन्य वस्तुएं भी नीलाम कर दी जायेंगी । आपकी इच्छा हो, मेरे साथ चलें या यहां रहें । यहां रहने के लिए आप को दस-ग्यारह रुपये का मकान काफी होगा । गुजारे के लिए पचास रुपये का प्रबन्ध मैंने कर दिया है ।'[3] पति के मरते ही पत्नी को यह समाज दो कौड़ी का बना देता है । रतन को कुछ भी नहीं सूझता, वह पूछती है -'मगर ऐसा कानून बनाया किसने ? क्या स्त्री इतनी नीच, इतनी

---

1. वरदान - प्रेमचंद रचनावली, भाग 1, पृ0 475
2. निर्मला, पृ0 38
3. गबन, पृ0 303

तुच्छ, इतनी नगण्य है ? क्यों ?... पति के जीवन में जो लोग मुंह ताकते थे, वे आज उसके भाग्य विधाता हो गए ।'[1] प्रेमचन्द के समय में आधी-आबादी के विषय में समाज का यही रवैया था । इसीलिए प्रेमचन्द ने `पति की सम्पत्ति पर पत्नी के पूरे अधिकार` का पक्ष लिया । शारदा बिल का समर्थन किया । वे जानते थे कि इससे कम पर कोई न्याय नहीं हो सकता था । उन्होंने अपनी एक कहानी `बेटों वाली विधवा` में भी पति की मृत्यु के बाद फूलमती की दयनीय स्थिति का मार्मिक चित्रण किया है । उसके पुत्र कहते हैं -'कानून यही है कि बाप के मरने के बाद जायदाद बेटों की हो जाती है । मां का हक केवल रोटी-कपड़े का है ।'[2] बेटे अपने अत्याचार को कानून का नाम देते हैं । प्रेमचन्द इस समाज को खूब पहचानते थे । इसीलिए उपेक्षा के इस षडयन्त्र का जैसा पर्दाफाश वे कर सके हैं, वह दुर्लभ है ।

प्रेमचन्द विधवाओं के विषय में इस समाज की एक और सच्चाई को पकड़ते हैं । वे पाते हैं कि जिन्हें समाज अछूत या निम्न श्रेणी का मानता है, उनके यहां विधवाओं की स्थिति सवर्ण और सभ्य (?) कहलाने को लालायित लोगों के यहां से अच्छी है । उन्होंने `स्वामिनी` शीर्षक कहानी में चित्रित किया है कि रामप्यारी का ससुर अपने बेटे की मृत्यु के बाद अपनी पतोहू रामप्यारी के दुःख को शिद्दत से महसूस करता है और उसे घर की मालकिन बना देता है । यद्यपि वह नहीं चाहती है फिर भी । वह सोचता है, इसी बहाने उसका दुःख अगर कम नहीं होगा तो बढ़ेगा भी नहीं । इसी प्रकार `आधार` शीर्षक कहानी में नायिका अनूपा पति की मृत्यु के बाद ससुराल में प्रेम और स्नेह पाने के कारण अन्यत्र शादी करने से इन्कार कर देती है । यहां ससुराल का अच्छा व्यवहार महत्वपूर्ण है । उसका अन्यत्र विवाह न करना एक दूसरा प्रश्न है । प्रेमचन्द अपनी कई रचनाओं में इस प्रश्न के सकारात्मक

---

1. गबन, पृ० 303-304
2. बेटों वाली विधवा - मानसरोवर, भाग 1, पृ० 84

उत्तर के साथ उपस्थित हैं । हमारे समाज में प्रेमचन्द युग से लेकर तमाम घरों में आज तक विधवा को किसी शुभ-कार्य में सम्मिलित नहीं होने दिया जाता है । उसकी छाया से सुहागिनें बचना चाहती हैं । उनके आचरण से लगता है, जैसे विधवा उनका सौभाग्य ला जाएगी । `धिक्कार` शीर्षक कहानी में नायिका मानी, जो कि बाल विधवा है, अपनी चचेरी बहन को उसके विवाह के दिन दुल्हन के रूप में देखने के लिए प्रेम और उत्सुकता से उसके कमरे में पहुंचती है । उसके पहुंचते ही उसकी चाची का पारा चढ़ जाता है । वे कहती हैं - `तुझे यहां किसने बुलाया था, निकल जा यहां से ।`[1] मानी पर इसका घातक प्रभाव पड़ता है । सोलह-सत्रह वर्ष की वह लड़की, जिसके हंसने-खेलने के दिन थे, विधवा बन कर धिक्कार और अपमान सहती है । प्रेमचन्द इस समाज के खोखलेपन को उजागर कर रहे थे । वे चित्रित कर रहे थे कि यह समाज कितना अपराधी है जो एक ओर बाल-विवाह करता है और दूसरी ओर विधवा हो जाने पर उसका जीना दूभर कर देता है । `प्रतिज्ञा` की नायिका विधवा पूर्णा अपने आश्रयदाता बदरी-प्रसाद के पुत्र कमलाप्रसाद की वासनामय दृष्टि से किसी प्रकार बच पाती है । जवान विधवा के लिए उसकी देह और उसका यौवन भी अभिशाप की तरह होता है । तब यह समाज जवान विधवा का पुनर्विवाह होने नहीं देता था और उसे शान्ति से जीने भी नहीं देता था । प्रेमचन्द स्त्री की इस व्यथा से परिचित थे । तभी तो उन्होंने विधवा-विवाह का घनघोर पक्ष लिया ।

`प्रतिज्ञा` में जब कमलाप्रसाद पूर्णा के साथ बलात्कार करना चाहता है तो वह उसका सिर फोड़ कर वनिताश्रम पहुंचती है । कई लोग उससे विवाह करना चाहते हैं । वनिताश्रम के संस्थापक अमृतराय उसके सम्बन्ध में अपनी राय रखते हैं - `उसकी विवाह करने की इच्छा हो, तो एक-से-एक धनी-मानी वर मिल सकते हैं । दो-चार आदमी तो मुझसे कह चुके हैं । मगर पूर्णा

---

1. धिक्कार - मानसरोवर, भाग 1, पृ0 216

TH- 8256

से कहते हुए डरता हूं कि कहीं बुरा न मान जाए । प्रेमा उसे ठीक कर लेगी ।'[1] यहां प्रेमचन्द बहुत साफ तौर पर विधवा-विवाह का समर्थन करते हैं । ऐसे ही 'नागपूजा' कहानी में समाज के घनघोर विरोध के बावजूद तिलोत्तमा के पिता जगदीशचन्द्र उसका पुनर्विवाह कर देते हैं । प्रेमचन्द ने लिखा है -'यह केवल तिलोत्तिमा का पुनः संस्कार न था, बल्कि समाज-सुधार का क्रियात्मक उदाहरण था ।'[2] 'प्रेमचन्द की सुधारवादी चेतना में वह सामाजिक आलोचना निहित है जो खोखली मर्यादाओं पर टिके समाज की असलियत जानने के लिए प्रतिबद्ध है ।'[3] यहां विधवा-विवाह के पक्ष में महात्मा गांधी के विचारों को देखा जा सकता है । उन्होंने लिखा है -'... विधवा स्त्री को पुनर्विवाह का उतना ही अधिकार है, जितना पुरुष को । स्वेच्छा से वैधव्य हिन्दू समाज का अमूल्य वरदान है, परन्तु ऊपर से लादा हुआ वैधव्य अभिशाप है । और मुझे विश्वास है कि हिंदू विधवाएं जनमत के भय से मुक्त हों, तो वे बिना हिचक के पुनर्विवाह कर लेंगी । ... यह किसी संस्था का काम नहीं, बल्कि व्यक्तिगत सुधारकों तथा इन विधवाओं के सम्बन्धियों द्वारा किया जाने वाला कार्य है ।... जब विधवाएं बड़ी हो जाएं और विवाह नहीं करना चाहें, तो उन को केवल यही कहना चाहिए कि कुमारी कन्याओं की ही तरह वे विवाह करने को स्वतन्त्र हैं ।'[4] गांधी जी आगे लिखते हैं -'मेरा विश्वास है कि जो लड़की 10-15 साल की अवस्था में अपनी सम्मति दिए बिना ही व्याही जाय और जो कभी अपने पति के साथ न रही हो, और एकाएक विधवा घोषित कर दी जाए, वह विधवा नहीं ।'[5] यहां गांधी जी के विचार हिन्दू समाज पर

DISS
0,152,3,M80:9(Y)
152N8

---

1. प्रतिज्ञा - प्रेमचन्द रचनावली, भाग 4, पृ0
2. नागपूजा - मानसरोवर, भाग 7, पृ0 294
3. परमानन्द श्रीवास्तव - राजकमल प्र0 दिल्ली से प्रकाशित, सेवासदन की भूमिका, पृ0 6
4. महात्मा गांधी - स्रोत - इन्द्रकुमार सिन्हा की पुस्तक - प्रेमचंद युगीन भारतीय समाज, पृ0 284
5. वही

केन्द्रित हैं । सच्चाई भी यही है कि विधवा की समस्या सर्वाधिक जटिल इसी समाज में रही है । संभवत: यही कारण है कि प्रेमचन्द विधवाओं के विषय में भारतीय समाज की समीक्षा करने के लिए हिन्दू समाज को ही चुनते हैं । उनकी विधवाएं इसी समाज की हैं । वे आजीवन इस समाज को खरी-खोटी सुनाकर रास्ते पर लाने की कोशिश करते रहे ।

तलाक की समस्या

कहा जाता है कि हमारे देश में तलाक की अवधारणा नहीं थी । लेकिन इस प्रश्न का उत्तर क्या होगा कि हमारे देश में विवाह के बाद पत्नी को छोड़ने की परम्परा बहुत पुरानी है । जब जी चाहा, कोई भी मिथ्या कारण बता कर पत्नी को घर से निकाल दिया । मिथकों[1], लोक-कथाओं, लोकगीतों और यहां तक कि पुत्र प्राप्ति पर गाए जाने वाले सोहर में भी हम अपने समाज की इस पतित मानसिकता को रेखांकित कर सकते हैं । आज भी गांवों में लोग बिना अदालत गए पत्नियों को कुलटा-भ्रष्टा-बांझ-कुरूप आदि कहकर छोड़ देते हैं । पुरुष में ये बुराईयां ऐसों की नज़र में विशेषता हैं । छोड़ी हुई स्त्रियां इधर-उधर, दर-ब-दर भटकती हैं । ऐसे में शिक्षा के प्रसार के बाद यहां 'तलाक' जैसे नियम का आना एक जरूरी घटना थी । इस नियम ने एक ओर जहां पुरुष की लम्पटता पर लगाम लगाने की कोशिश की, वहीं दूसरी ओर उन स्त्रियों को बल दिया, जो परित्यक्ता हो रही थीं । प्रेमचन्द युग ही 'तलाक-बिल' का प्रत्यक्षदर्शी है । उसका समर्थन और उसका विरोध उसकी पुतलियों में अटका पड़ा है । चूंकि प्रेमचन्द अपने समय में स्त्री-मुद्दे पर सर्वाधिक गम्भीरता से विचार करने वाले लेखक थे, इसलिए इस विषय पर भी उन्होंने गम्भीरता से लिखा है । फरवरी 1931 में लिखी अपनी टिप्पणी 'नारी-जाति के अधिकार'[2] में उन्होंने स्त्री-पुरुष में

---

1. राम द्वारा सीता को छोड़ना ।
2. विविध प्रसंग, भाग 3, पृ0 250 (पृ0 13 पर पूरा कथन उद्धृत)

असमानता मानने वाली मानसिकता पर दु:ख प्रकट करने के साथ ही तलाक को उन्होंने स्त्री-पुरुष दोनों पर समान रूप से लागू करने की बात की । इसी में उन्होंने यह भी कहा कि तलाक के समय स्त्री पुरुष की आधी जायदाद पाए और यदि मौरूसी जायदाद हो तो उसका एक अंश ।

अपनी दूसरी महत्वपूर्ण टिप्पणी 'सर हरिसिंह गौड़ का तलाक-बिल' में उन्होंने इस समस्या पर तीक्ष्ण विवेचन किया है । उन्होंने अपने समाज की नब्ज पर हाथ रखते हुए लिखा है -'स्त्री में रूप न हो, वह फूहड़ हो, उसके संतान न होती हो, या किसी कारण-वश उससे असंतुष्ट हो, तो उसके लिए रास्ता साफ़ है । लेकिन पुरुषों में कितनी ही बुराईयां हों, स्त्री के लिए कहीं शरण नहीं ।यह एक तरफी नीति बहुत दिन तक चली, लेकिन अब नहीं चल सकती ।'[1] प्रेमचन्द 'गोदान' में इसका एक उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं । रायसाहब की बेटी मीनाक्षी अपने पति के दुराचरण की वजह से उससे तलाक लेती है और गुजारे का दावा भी करती है । प्रेमचंद ने लिखा है -'गुजारे की मीनाक्षी को जरूरत न थी । मैके में वह बड़े आराम से रह सकती थी, मगर वह दिग्विजय सिंह के मुंह में कालिख लगाकर यहां से जाना चाहती थी ।'[2] कहने का आशय यह कि मीनाक्षी का यह दावा स्त्रियों में आ रही चेतना का सूचक था । पति को उसकी लम्पटता के बाद भी आसानी से छोड़ देना, समाज में अत्याचार और असमानता को बढ़ावा देने जैसा ही होता है ।खासकर तब तो और भी जब कानून आप के साथ हो ।

प्रेमचन्द स्त्रियों के साथ हुए और हो रहे अत्याचार को देखते हुए तलाक बिल का समर्थन तो करते हैं, लेकिन अपने कथा-साहित्य में इस बात पर ही ज़्यादा जोर देते हैं कि विवाह का रिश्ता जीवन-पर्यन्त बना रहे, इससे अधिक सुखद कुछ नहीं हो सकता । वे इसी टिप्पणी में आगे लिखते हैं -- 'हिन्दू-विवाह का आदर्श बहुत ऊंचा है । हिन्दू-विवाह और तलाक दो

---

1. विविध प्रसंग - भाग 3, पृ० 257
2. गोदान, पृ० 269

परस्पर विरुद्ध बातें हैं, लेकिन इस आदर्श का मूल्य बहुत कम हो जाता है, जब उसके पालन का भार केवल स्त्रियों पर रख दिया जाता है । विशेष कर जब हिन्दू देवियां खुद इस बिल की मांग पेश कर रही हैं तो पुरुषों को उसे स्वीकार करने के सिवा और कोई मार्ग नहीं रह जाता ।[1] प्रेमचंद ने तलाक के विषय में अपनी इस टिप्पणी में सूक्ष्म विवेचन करते हुए स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की एक नई परिभाषा दी है -`ज्यों ज्यों उनमें (स्त्रियों में) शिक्षा का प्रचार हो रहा है, उनमें अपनी वर्तमान अधोगति से विद्रोह उत्पन्न हो रहा है और तलाक की मांग उसी विद्रोह का सूचक है । पुरुषों को अब उन से समझौता करना होगा । उनकी शिकायतों की अवहेलना करके अब वे अपने पुरुषत्व को कलंक से नहीं बचा सकते ।`[2] यहां `कर्मभूमि` उपन्यास में नैना और सुखदा का संवाद उल्लेखनीय है -

> नैना सुखदा से कहती है -`तुम कहती हो, पुरुष के आचार-विचार की परीक्षा कर लेनी चाहिए । क्या परीक्षा कर लेने पर धोखा नहीं होता ? आए दिन तलाक क्यों होते रहते हैं ?
> सुखदा बोली -`तो इसमें बुराई क्या है ? यह तो नहीं होता कि पुरुष गुलछर्रे उड़ाए और स्त्री उसके नाम को रोती रहे ।`
> नैना ने जैसे रटे हुए वाक्य को दुहराया -`प्रेम के अभाव में सुख कभी नहीं मिल सकता । बाहरी रोक-थाम से कुछ न होगा ।`[3]

सुखदा के इस कथन को आधार मिलता है `गोदान` की मीनाक्षी में । यद्यपि स्वयं सुखदा इसी उपन्यास में आगे चल कर अपने को दुख के बाद भी `बंधन` में डाले रहना सुखकर बताती है । उसका पति अमर उसकी जिन्दगी में लौट भी आता है । लेकिन सुखदा का ऊपर का कथन बीसवीं सदी के तीसरे दशक

---

1. विविध प्रसंग, भाग 3, पृ0 258
2. वही, पृ0 258
3. कर्मभूमि, पृ0 113

की एक शिक्षित युवती के विद्रोह का यथार्थ है । जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि प्रेमचन्द स्त्री की मुक्ति के लिए, उसके अधिकार के लिए, विषम परिस्थितियां आने पर तलाक का पक्ष लेते हैं, लेकिन अपने विस्तृत कथा-साहित्य में वे यही चित्रित करना चाहते हैं कि स्त्री-पुरुष इस प्रकार एक दूसरे के विश्वास को बचाते हुए जीवन यापन करें कि `तलाक` की स्थिति ही न आए । प्रेमचन्द ही क्यों, किसी भी संवेदनशील मनुष्य के लिए विवाह जैसे रिश्ते का टूटना सुखद नहीं हो सकता । पति से आहत (`सौहाग का शव` की नायिका) सुभद्रा पति की दलील को काटते हुए कहती है -`क्षमा कीजिए मि. केशव, मुझमें इतनी बुद्धि नहीं कि इस विषय पर आप से बहस कर सकूं । आदर्श समझौता वही है, जो जीवन-पर्यन्त रहे । मैं भारत की नहीं कहती । वहां तो स्त्री पुरुष की लौंडी है, मैं इंग्लैण्ड की कहती हूं । यहां भी कितनी ही औरतों से मेरी बात-चीत हुई है । वे तलाकों की बढ़ती हुई संख्या को देख कर खुश नहीं होतीं। विवाह का सबसे ऊंचा आदर्श उसकी पवित्रता और स्थिरता है ।`[1] इस आखिरी वाक्य में प्रेमचन्द का घनघोर विश्वास है । होना भी चाहिए । विवाह महज सामाजिक-आर्थिक समझौता नहीं होता, इससे कहीं ज्यादा वह एक आत्मिक समझौता भी होता है । और इस आत्मिक समझौते को पति-पत्नी अपनी उपेक्षा से तोड़ दें, यह आने वाली संततियों के हित में अच्छा नहीं होता । ऐसे दम्पत्ति जो बाल-बच्चेदार हैं, उनके वहां तो बच्चों का जीवन अधर में पड़ जाता है । वे जिस सामाजिक-मानसिक अवस्था से गुजरते हैं, उसकी कल्पना भर की जा सकती है । वैसे इसके उदाहरण भी उपलब्ध हैं । मन्नू भण्डारी का चर्चित उपन्यास `आपका बंटी` इस समस्या पर गहराई से लिखा गया एक मार्मिक उपन्यास है । मन्नू जी से लगभग तीन दशक पूर्व प्रेमचन्द ऐसी ही समस्याओं की कल्पना सेचिन्तित होकर `तलाक` की समस्या से यथासंभव बचने की बात करते हैं । वे तलाक की उपयोगिता और

---

1. - प्रेमचन्द युगीन भारतीय समाज - पृ0 -269

उससे उत्पन्न दु:ख, दोनों का ठीक-ठीक मूल्यांकन करते हुं । अपने एक पत्र में वे इन्द्रनाथ मदान को लिखते हैं -`अपने अच्छे से अच्छे रूप में विवाह भी एक प्रकार का समझौता और समर्पण है । यदि कोई सुखी होना चाहते हैं तो उन्हें एक दूसरे का लिहाज करने के लिए तैयार रहना चाहिए ।` आगे इसी पत्र में लिखते हैं -`जब इस बात का निश्चय ही नहीं कि तलाक हमारी वैवाहिक बुराइयों को दूर करेगा, मैं इसे समाज पर लादना नहीं चाहता । हां, कुछ मामलों में तलाक आवश्यक हो जाता है । लेकिन मेरी समझ में झगड़े की जड़ एक दूसरे की उपेक्षा को छोड़ कर और कोई नहीं है ।`[1] प्रेमचन्द इस उपेक्षा नामक खतरनाक बीमारी को जड़ से खत्म करने का पक्ष लेते हैं । वे इस बात को जानते थे कि भारतीय समाज की सर्वमुखी उन्नति के लिए पति-पत्नी में `विश्वास` नामक तत्व का होना सबसे जरूरी है, क्योंकि समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई परिवार पति-पत्नी के आपसी प्रेम से ही अस्तित्व में आता और फलता-फूलता है ।

क्रय-विक्रय के संसार में स्त्री (वेश्या-समस्या)

भारतीय समाज में स्त्री की जो स्थिति रही है, वेश्या-समस्या उससे गहरे जुड़ी है । सभ्यता के लगभग आरंभिक दौर से किसी न किसी रूप में वेश्याओं की उपस्थिति भारतीय समाज में है । पुरुष वर्चस्व वाले इस समाज में स्त्री को सदा ही भोग की वस्तु समझा गया । आज भी ऐसे महानुभावों की कमी नहीं है, जो स्त्री को इसी रूप में देखते हैं । वेश्याएं ऐसी ही दृष्टि के चरम का परिणाम हैं । वे सभी नगरवधू के रूप में आईं, कभी देवदासियों के रूप में और अक्सर क्रय-विक्रय के संसार में एक ऐसी स्त्री के रूप में, जिसके पास जीने के लिए यह समाज कोई और मार्ग ही नहीं छोड़ता । प्रेमचन्द स्त्री की इस सोचनीय दशा पर गम्भीरता से विचार करते हैं । अपने एक लेख में वे इसका कारण आर्थिक बताते हैं । उन्होंने लिखा है

---

1. 26 दिसम्बर 1934 को लिखा पत्र । स्रोत - इन्द्रकुमार सिन्हा की पुस्तक - प्रेमचन्द युगीन भारतीय समाज, पृ0 269 और 271 ।

कि `इस तरह की बुराईयों का मुख्य कारण आर्थिक कष्ट ही है । बेकारी दिन-दिन बढ़ती जाती है । मजूरों की मजूरी नहीं लगती, किसान तबाह हुए जाते हैं, पढ़े-लिखे आदमी भूखों मर रहे हैं, व्यापारियों का दिवाला निकला जा रहा है । फिर ऐसी वारदातें क्यों न हों और क्यों न चकले आबाद हों ।`[1] अपने एक अन्य लेख `रूस का नैतिक उत्थान` में भी वे इस का मूल कारण आर्थिक ही बताते हैं । इसमें वे लिखते हैं कि -`वेश्यावृत्ति का मूल कारण आर्थिक संकट है, जो बाद में मानसिक दुर्बलता का रूप धारण कर लेता है । जहां धन थोड़े से आदमियों के हाथ में है, वहां लाजिमी है कि धनवान लोग अपनी विलासिता को तृप्त करने के लिए प्रलोभनों से काम लें । उसी से बीमारियां भी फैलती हैं ।`[2] प्रेमचन्द इस विषय पर लेख लिखने के साथ ही अपने विस्तृत कथा-साहित्य में भी इस मुद्दे पर सवेदन-शीलता से विचार करते हैं । `जीवन का शाप` कहानी की नायिका गुलशन कहती है -`सब के सब हथकण्डों से पैसे कमाते हैं और अस्वाभाविक जीवन बिताते हैं ।`[3] यह अस्वाभाविकता उसकी दृष्टि में वेश्यागमन जैसी बातें ही हैं ।

`वेश्या` नामक कहानी में प्रेमचन्द इस पेशे के लिए पुरुषों को जिम्मेदार ठहराते हुए मानते हैं कि इसकी शुरुआत पुरुषों ने ही की होगी। किसी भी समाज को पतन की ओर ले जाने के लिए यह पर्याप्त है कि उस समाज में स्त्री पुरुषों की काम तृप्ति के लिए वेश्या बन जाए । `वेश्या` की नायिका माधुरी कहती है -`नारी अपना बस रहते हुए कभी पैसों के लिए अपने को समर्पित नहीं करती । यदि वह ऐसा कर रही हो, तो समझ लो कि उसके लिए और कोई आश्रय, और कोई आधार नहीं है ।`[4] यहां एक

---

1. विविध प्रसंग - भाग 3 - औरतों का क्रय-विक्रय, पृ0 261
2. वही - रूस का नैतिक उत्थान, पृ0 267
3. जीवन का शाप - मानसरोवर, भाग 2, पृ0 238
4. वेश्या - वही, पृ0 55

और सामाजिक तथ्य का उद्‌घाटन होता है । नारी महज पैसे के लिए इस व्यापार में नहीं आ सकती । मूल कारण हो जाता है उसका समाज में आधारहीन होना । यह आधारहीनता और पुरुष वर्ग की कामोदीप्त निगाहें जीविकोपार्जन के लिए उन्हें इस पेशे में ला पटकती हैं । यद्यपि पूंजीवाद ने प्रेमचन्द के इस मूल वक्तव्य को ही सही ठहराया है कि आर्थिक कारण इस पेशे के लिए सबसे बड़ा कारण है । अगर ऐसा नहीं होता तो सोवियत संघ के विघटन के बाद स्त्री मुक्ति के महान् योद्धा लेनिन की मूर्ति के सामने उन्हीं के देश की युवतियां `प्लेव्वाय` जैसी बदनाम पत्रिकाओं के लिए `नग्न माडलिंग ` नहीं करतीं । महज `डालरों` के लिए `मुक्ति संग्राम` के प्रात:स्मरणीय देश की युवतियां `कालगर्ल ` न बन जातीं । यहां विलियम मारिस का कथन पुन: याद आता है कि - `पूंजीवाद सिर्फ गलत व्यवस्था ही नहीं, बल्कि मनुष्य विरोधी व्यवस्था भी है ।` अर्थ का असमान वितरण भारतीय समाज को दरिद्रता और व्यभिचार की ओर ढकेल रहा है । कहने की आवश्यकता नहीं कि पूंजीवाद की मंशा भी यही होती है । वेश्याएं इसी मंशा की पैदाइश हैं ।

`वेश्या` की माधुरी सामन्ती समाज में वेश्या होने के एक कारण की ओर संकेत करती हैं । प्रेमचन्द तक आते आते भारतीय समाज में बदलाव आने लगा था । पूंजीवाद ने यहां पैर पसारना शुरू कर दिया था । इसी लिए प्रेमचन्द दूरदृष्टि का परिचय देते हुए वेश्या समस्या का मूल कारण आर्थिक बताते हैं ।

`वेश्या` की नायिका माधुरी अपने एक कथन में एक ओर वेश्याओं की व्यथा का ज़िक्र करती है और दूसरी ओर इस समाज के ढोंग को भी उजागर करती है । वह कहती है -`पुरुष इतना निर्लज्ज है कि उसकी दुरवस्था से अपनी वासना तृप्त करता है और इसके साथ ही इतना निर्दय कि उसके माथे पर पतिता का कलंक लगा कर उसे उसी दुरवस्था में मरते देखना चाहता है । क्या वह नारी नहीं है ? क्या नारीत्व के पवित्र मंदिर में उसका पवित्र स्थान नहीं है ? लेकिन तुम उसे उस मंदिर में घुसने नहीं देते ।

उसके स्पर्श से मंदिर की प्रतिमा भ्रष्ट हो जाएगी ।'[1] 'सेवासदन' की नायिका सुमन भी सदन से बहुत क्रोध और व्यथा के साथ कहती है - 'अंधेरे में जूठा खाने को तैयार, पर उजाले में निमन्त्रण भी स्वीकार नहीं ।'[2]

'सेवासदन' में प्रेमचन्द ने इस समस्या से सम्बन्धित मुद्दों का खुलासा किया है । सुमन विट्ठल दास से कहती है -'मैं जानती हूं कि मैंने अत्यन्त निकृष्ट कार्य किया है । लेकिन मैं विवश थी, इसके सिवा मेरे लिए और कोई रास्ता न था । ... मैंने चाहा कि कपड़े सीकर अपना निर्वाह करूं, पर दुष्टों ने मुझे ऐसा तंग किया कि अंत में मुझे इस कुएं में कूदना पड़ा ।'[3] आखिर ये 'दुष्ट' हैं कौन ? प्रेमचन्द इसका उत्तर देते हुए कुंवर अनिरुद्ध सिंह से कहलवाते हैं -'हमें वेश्याओं को पतित समझने का कोई अधिकार नहीं है । हम रात दिन जो रिश्वतें लेते हैं, सूद खाते हैं, दीनों का रक्त चूसते हैं, असहायों का गला काटते हैं, कदापि इस योग्य नहीं हैं कि समाज के किसी अंग को नीच या तुच्छ समझें । सबसे नीच हम हैं - सबसे पापी, दुराचारी, अन्यायी हम हैं जो अपने को शिक्षित, सभ्य, उदार और सच्चा समझते हैं । हमारे शिक्षित भाईयों की ही बदौलत दालमंडी आबाद है, चौक में चहल-पहल है, चकलों में रौनक है । यह मीना बाजार हम लोगों ने ही सजाया है, ये चिड़ियां हम लोगों ने ही फांसी हैं । जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती राज्य कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु, आदर और सम्मान के पात्र हों, वहां दालमंडी क्यों न आबाद हो । जिस दिन नज़राना, रिश्वत, सूद-दर-सूद का अंत होगा, उसी दिन दालमंडी उजड़ जाएगी, ये चिड़ियां उड़ जाएंगी ।'[4] यह है वेश्या-समस्या पर प्रेमचंद

---

1. वेश्या - मानसरोवर, भाग 7, पृ0 55
2. सेवासदन, पृ0 295
3. वही, पृ0 100
4. वही, पृ0 266-67

की दृष्टि और उनका अथाह दु:ख । डा. परमानन्द श्रीवास्तव ने ठीक लिखा है कि -`प्रेमचंद के लिए नारी मुक्ति की समस्या आर्थिक-सामाजिक मुक्ति की समस्या है ।`[1]

`गोदान` में प्रेमचन्द का यह मंतव्य मिर्जा साहब के कथन में अस्तित्व पाता है । मिर्जा साहब कहते हैं -`रूप के बाजार में वही स्त्रियां आती हैं, जिन्हें या तो अपने घर में किसी कारण से सम्मानपूर्ण आश्रय नहीं मिलता या जो आर्थिक कष्टों से मजबूर हो जाती हैं ।`[2] मेहता उनके कथन का प्रतिवाद करते हैं तो मिर्जा साहब फिर कहते हैं -`मैं कहता हूं कि यह महज रोजी का सवाल है । हां, यह सवाल सभी आदमियों के लिए एक सा नहीं है । मजदूर के लिए वह महज आटे-चावल और एक फूस की झोंपड़ी का सवाल है । एक वकील के लिए वह एक कार और बंगले और खितमतगारों का सवाल है । आदमी महज रोटी नहीं चाहता , और भी बहुत सी चीजें चाहता है । अगर औरतों के सामने भी वह प्रश्न थरह-तरह की सूरतों में आता है, तो उनका क्या कसूर है ।`[3] कहने की आवश्यक्ता नहीं कि यहां भी मूल कारण आर्थिक-सामाजिक ही हैं ।

प्रेमचन्द `सेवासदन` में यह चित्रित करते हैं कि वेश्यावृत्ति और धार्मिक पाखण्ड में बहुत गहरा सम्बन्ध है । जिस ठाकुरद्वारे में पहले सुमन को घुसने नहीं दिया जाता है, वेश्या होने के बाद, वहां उसका गायन होता है । यह है हमारा भारतीय समाज । कुरूप अन्तर्विरोधों से भरा हुआ । `सेवासदन` में प्रेमचन्द ने सुधारवादी रुख अपनाया है । लेकिन यहां भी उनकी आलोचना दृष्टि बहुत पैनी है । वे चित्रित करते हैं कि विट्ठलदास जैसे लोग सुमन जैसी वेश्याओं का इसलिए उद्धार करना चाहते

---

1. राजकमल प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित `सेवासदन` की डा. परमानन्द श्रीवास्तव द्वारा लिखी भूमिका से, पृ0 12
2. गोदान, पृ0 272
3. वही

हैं कि वह हिन्दू ब्राह्मणी है । कितनी बड़ी विडम्बना है कि हमारे समाज में बड़ी से बड़ी समस्या को भी जाति और धर्म से जोड़ कर देखा जाता है । विट्ठलदास का दृष्टिकोण एकांगी है क्योंकि काशी की वेश्याएं भी सिर्फ हिन्दू जाति की नहीं हैं । ऐसे ही पद्मसिंह का समाधान भी एक आदर्शवादी, कदाचित रूमानी रुझान का है । फिर भी यह समाधान अपनी सीमाओं के बावजूद एक ऐसे समाज की कल्पना को बल देते हैं, जहां स्त्री क्रय-विक्रय की चीज न रहे, पराधीन न रहे । यद्यपि यथार्थ में यह स्थिति सामाजिक व्यवस्था परिवर्तन से ही आएगी । `स्त्री मुक्ति` की आदर्श स्थिति उसी बदले हुए आजाद समाज में होगी, जिसमें स्त्री-पुरुष में कोई असमानता नहीं होगी, जिसमें लिंग-जाति-धर्म और अर्थ के आधार पर कोई शोषण नहीं होगा । `सेवासदन` पर टिप्पणी करते हुए रामविलास शर्मा ने इस सन्दर्भ में उचित ही लिखा है कि `प्रेमचन्द समस्या का समाधान देना चाहते थे, लेकिन उक्ति समाधान देने में ऐतिहासिक सीमाएं बाधक थीं । नारी की स्वाधीनता और सम्मान-रक्षा का प्रश्न देश की आम सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का ही अंग है । नारी की स्वाधीनता देश में एक स्वाधीन जनतन्त्र कायम हुए बिना संभव नहीं ।`[1] प्रेमचन्द ने अपनी कई अन्य कहानियों में भी वेश्या जीवन की समस्या को उठाते हुए भारतीय समाज व्यवस्था की कड़ी आलोचना की है । उनके लेखन से साफ जाहिर होता है कि वे स्त्री को उतना ही मनुष्य मानते हैं, जितना पुरुष को । वे उस समाज के प्रति घृणा पैदा करते हैं, जो वेश्याओं को जन्म देता है । उनकी दृष्टि में तब रूस का महान दर्जा था, क्योंकि वहां स्त्रियां पराधीन नहीं थीं । खरीदी-बेची नहीं जाती थीं । वे पुरुषों के साथ कदम से कदम मिला कर अपने समाज को उन्नति की ओर ले जा रही थीं । कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द के स्त्री-विषयक दृष्टिकोण की अपनी कुछ सीमाएं हैं, फिर भी उन के समकालीनों में स्त्री के सम्बन्ध

---

1. प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० 39

में उनसे प्रगतिशील नज़रिया और किसी के पास नहीं दिखता । हिन्दी कथा साहित्य में वे पहले लेखक हैं जो स्त्रियों पर हो रहे जुल्मो-सितम का कड़ा विरोध करते हैं । 'उन्हें मनुष्य का दर्जा दिलाने के लिए लड़ते हैं ।'

द्वितीय अध्याय

कृत - अकृत समस्या और प्रेमचन्द

'मुई खाल की स्वांस सों सार भसम हो जाय'

बीसवीं शताब्दी के दूसरे-तीसरे और चौथे दशक में छूत-अछूत के मुद्दे पर जिस गहरी संवेदनशीलता से प्रेमचन्द ने लिखा, किसी और ने नहीं । प्रेमचन्द के सामने यह बात बिल्कुल साफ थी कि यह समस्या मूलत: हिन्दू समाज की समस्या है । देश की राजनीतिक गुलामी को गहरे तक महसूस करने के बाद वे यह जान चुके थे कि जाति या धर्म नहीं, मनुष्य के लिए मनुष्य ही महत्वपूर्ण है । और यह भी कि साम्प्रदायिकता किसी भी रूप में खतरनाक ही होती है ।

प्रेमचन्द हिन्दू समाज की इस विडम्बना से बहुत आहत थे कि यह समाज जिसे अपना भाई कहता है, उसी के साथ ऐसा दुर्व्यवहार करता है कि मनुष्यता सिहर उठती है । उनके लिए यह चिन्ता का विषय था कि यह कैसा समाज है, जो मनुष्य को उसके गुणों-अवगुणों से नहीं, बल्कि उस की जाति से देखता है । उन्हें इस बात को लेकर कोई भ्रम नहीं था कि यह पतनशील प्रवृत्ति सिर्फ हिन्दू समाज के लिए नहीं, बल्कि भारतीय समाज के लिए भी अत्यन्त घातक है । 26 सितम्बर 1932 को उन्होंने अपने लेख 'हमारा कर्तव्य' में साफ-साफ लिखा कि -'हमारा कर्तव्य तभी पूरा होगा, जब हम देश के वर्तमान अछूतपन को जड़मूल से नष्ट कर देंगे ।'[1] यहां गौर करने की बात है कि प्रेमचन्द वर्णाश्रम में किसी आंशिक संशोधन की बात न करते हुए एक आकाशधर्मी हृदय और बुद्धि का परिचय देते हैं । इसी निबन्ध में वे आगे लिखते हैं -'क्या कोई भी वर्णाश्रम अपने हृदय पर हाथ रख कर कह सकता है कि वास्तव में यह छुआछूत उन्हें धर्म की दृष्टि से उचित प्रतीत होती है ? नहीं, कोई भी यह नहीं कह सकता । एक स्वार्थ ही इसका कारण है । पर याद रहे, यह इस समय का स्वार्थ, वर्ष दो वर्ष चाहे

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 441, प्रेमचंद

उनकी छाती को ठण्डा भले ही कर दे, पर आगे वह उनकी पुरानी से पुरानी, दृढ़ से दृढ़ बुनियाद को भी उखाड़ फेंकेगा । वे स्वार्थ के जिस सुन्दर खिलौने से बच्चों की तरह खिलवाड़ कर रहे हैं, वह असल में डायनामाइट है, जो उनकी सात पुश्तों को ध्वस्त कर डालेगा । इसे दूर फेंक देना चाहिए, वरना फिर पश्चाताप का भी समय न मिलेगा ।'[1] प्रेमचन्द के इस कथन को आज की भारतीय राजनीति में चरितार्थ होते देख कर अनुमान किया जा सकता है कि प्रेमचन्द कितने दूरदर्शी थे । वे आने वाले समय के भारतीय समाज को देख रहे थे । कहने की आवश्यकता नहीं कि बड़ा लेखक वही होता है जो अपने समय और समाज के सच को गहराई से महसूस कर व्यक्त करने के साथ-साथ आने वाले समय और समाज के विषय में भी अपनी तार्किक राय व्यक्त करता है । दूसरे शब्दों में कहें तो अपने समय और समाज के सच के सहारे भविष्य को भी देखने की कोशिश करनेवाला लेखक ही बड़ा महान होता है ।

प्रेमचन्द जिन दिनों लगातार इस ज्वलन्त विषय पर लिख रहे थे, उन्हीं दिनों गांधी जी ने भी कहा था -'अस्पृश्यता या छुआछूत अगर हिन्दू धर्म में हो, तो मुझे कहना पड़ेगा कि उसमें शैतानियत भरी हुई है, धर्म नहीं । पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दू-धर्म यह सब कुछ नहीं है । जब तक प्रत्येक हिन्दू अपने चमार भंगी आदि भाइयों को भी अपने सगे भाई की तरह हिन्दू न समझेंगे, तब तक मैं उन्हें हिन्दू ही नहीं समझूंगा । मनुष्य तिरस्कार और दया इन दो चीजों के साथ नहीं रह सकता ।'[2] हम गौर करें तो पाएंगे कि गांधी जी के इस कथन में `धर्म ` महत्वपूर्ण होते हुए भी `समता` से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है । कोई भी समाज या देश `विषमता` में रहते हुए विकास नहीं कर सकता । गांधी जी और प्रेमचन्द, दोनों ही इस सत्य से पूर्णत: परिचित थे ।

---

1. प्रेमचन्द - विविध प्रसंग, भाग 2, पृ0 441
2. महात्मा गांधी - स्रोत - वही, शीर्षक `हमारा कर्तव्य` ।

दलितों का `मंदिरों में प्रवेश` इस बीतती सदी के तीसरे और चौथे दशक की अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है । यह वही प्रश्न है जिसके सहारे अंग्रेज भी अपनी रोटी सेंकने का प्रयत्न कर रहे थे । चूंकि प्रेमचन्द अत्यन्त संवेदनशील और सचेत रचनाकार थे, इसलिए उन्होंने इस मुद्दे पर विस्तार से विचार किया है । कहना तो यह चाहिए कि अपने विवेचनात्मक गद्य में छुत-अछुत प्रश्न पर विचार करते हुए उन्होंने सर्वाधिक ध्यान `मंदिर-प्रवेश` समस्या पर दिया है । उनके लिए दलितों का मंदिर में प्रवेश धर्म की अपेक्षा समता की दृष्टि से महत्वपूर्ण था । यह प्रेमचन्द की समतामूलक दृष्टि ही थी जिसके तहत उन्होंने बहुत कड़े शब्दों का प्रयोग करते हुए लिखा कि - `क्या मंदिरों के पुजारियों और मठों के महन्तों से हिन्दू जाति बनी हुई है ? पूजा करने वाले भी रहेंगे, या पूजा कराने वाले ही मंदिरों को स्थाई रखेंगे ।`[1] इसी लेख में उन्होंने आगे लिखा -`अगर आपके देवता ऐसे निर्बल हैं कि दूसरों के स्पर्श से ही अपवित्र हो जाते हैं, तो उन्हें देवता कहना ही मिथ्या है । देवता वह है, जिसके सम्मुख जाते ही चाण्डाल भी पवित्र हो जाय ।`[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द के समय में इस तरह का विचार व्यक्त करना बड़े कलेजे की बात थी । उन्होंने जिस गम्भीरता से लिखा और लिखने का परिणाम झेला, उससे यह बात बिलकुल साफ हो जाती है कि उन्होंने सस्ती लोकप्रियता के लिए यह सब नहीं लिखा था । वे भीतर से उद्वेलित थे । उनके विवेचनात्मक गद्य से कथा-साहित्य तक उन की यह प्रगतिशीलता रेखांकित की जा सकती है और की जाती रही है । उनकी प्रगतिशीलता युग सापेक्ष है और प्रगतिशीलता युग सापेक्ष होती भी है ।

प्रेमचन्द ने `18 दिसम्बर` को एक ऐतिहासिक दिन बताते हुए लिखा है -`... यह `हरिजन दिवस` समस्त हिन्दू जाति का पर्व होगा ।`[3] इसी

---

1. प्रेमचन्द - विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 448 -`अछूतों को मंदिरों में जाने देना पाप है ?`
2. वही
3. वही, पृ0 452 - पावन तिथि ।

लेख में उन्होंने आगे लिखा कि -'हमको दिल से यह भाव सम्पूर्णत: निकाल डालना होगा कि हम उन से ऊंचे हैं । हमने केवल पशुबल से उनके अधिकारों का अपहरण कर लिया है । हम उन से बलवान हो सकते हैं, पर ऊंचे कदापि नहीं । बल नैतिक दृष्टि से उच्चता का बोधक नहीं ।'[1] प्रेमचन्द ने बहुत बड़ी बात लिखी थी । जो लोग शक्ति-बल को ही ऊंचाई का पैमाना मानते थे, उनके वंशजों से आज पूछने पर `हाले-दिल` का पता लग जाएगा । आज जब कि भारतीय राजनीति का पासा पलट चुका है, ये ऊंचे लोग कहां हैं ?' प्रेमचन्द ने इन्हीं लोगों को शास्त्रोपजीवी कहते हुए टिप्पणी की थी कि 'थोड़े से शास्त्रोपजीवी लोगों को छोड़ कर सारा हिन्दू समाज हरिजनों के मंदिर प्रवेश के पक्ष में है ।'[2]

`मंदिर प्रसंग` पर प्रेमचन्द गांधी जी से बहुत ज्यादा प्रभावित थे । कहने की आवश्यकता नहीं कि गांधी जी उन के समय के सर्वाधिक प्रभावशाली राजनीतिक-सामाजिक विचारक थे । गांधी जी ने उन्हीं दिनों कहा था - 'अस्पृश्यता को बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती । वह सत्य का, अहिंसा का विरोधी धर्म है, इसलिए धर्म ही नहीं । हम ऊंच और दूसरे नीच हैं, यह विचार ही नीच है । जिस ब्राह्मण में शूद्र का - सेवा का - गुण नहीं, वह ब्राह्मण नहीं । ब्राह्मण तो वही है, जिसमें क्षत्रिय के, वैश्य के और शूद्र के, सब के गुण हों और इन के अतिरिक्त ज्ञान हो । शूद्र ज्ञान से सर्वथा रहित अथवा विमुख नहीं होते । उनमें सेवा प्रधान है । वर्णाश्रम में तो भंगी, चाण्डाल आदि तर गए हैं । जो धर्म संसार मात्र को विष्णु समान जानता है, वह अन्त्यज को विष्णु रहित कब मान सकता है ।'[3] गांधी जी के इस कथन में वर्णाश्रम और हिन्दू धर्म की गरिमा का बखान है, लेकिन इसका

---

1. प्रेमचन्द - विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 452 -`पावन तिथि`
2. वही
3. वही, पृ0 454

मंतव्य `समता` का ही है । प्रेमचन्द ने इस बात का हवाला देते हुए, कि किसी समय में गोमेध ही नहीं, नरमेध भी जायज था, लेकिन आज नहीं है ; लिखा है - ...`लेकिन जिन बातों के सत्यासत्य को हम बुद्धि से पहचान सकते हैं, जो मानवता, न्याय, अहिंसा और सत्य के प्रतिकूल हैं, उन्हें हम शास्त्रोक्त मान कर व्यवहार में नहीं लाना चाहते ।`[1] उनकी स्पष्ट राय थी कि मंदिर प्रवेश का अधिकार देकर हिन्दू जाति कोई उपकार नहीं, अपना कलंक दूर करेगी ।

प्रेमचन्द अच्छी तरह जानते थे कि हमारे समाज में, तथाकथित सवर्ण समाज में ऐसे लोग भरे पड़े हैं जो दलितों के रहन-सहन, उनकी अशिक्षा आदि को बीच में ला कर उनके विकास का मार्ग अवरुद्ध करने की कोशिश कर रहे हैं । ऐसे लोगों की मंशा यह होती थी कि अगर ये दलित आगे बढ़ जाएंगे तो उनका बेगार कौन करेगा ! कौन उनकी जी हुजूरी करेगा । किसका शोषण करके वे अपने बड़प्पन की भूख को शान्त करेंगे ! प्रेमचन्द ऐसे लोगों को अच्छी तरह पहचानतेथे । उन्होंने लिखा है -`कहा जाता है कि अछूतों की आदतें गंदी हैं, वे रोज स्नान नहीं करते, निषिद्ध कर्म करते हैं, आदि । क्या जितने सछूत हैं, वे रोज स्नान करते हैं, क्या काश्मीर और अल्मोड़ा के ब्राह्मण रोज नहाते हैं ? हम ने इसी काशी में ऐसे ब्राह्मणों को देखा है, जो जाड़ों में महीने में एक बार स्नान करते हैं । फिर भी वे पवित्र हैं । यह इसी अन्याय का प्रायश्चित है कि संसार के अन्य देशों में हिन्दू-मात्र को अछूत समझा जाता है । फिर शराब क्या ब्राह्मण नहीं पीते । इसी काशी में हजारों मदसेवी ब्राह्मण - और वह भी तिलकधारी - निकल आएंगे, फिर भी वे ब्राह्मण हैं । ब्राह्मणों के घरों में चमारियां हैं, फिर भी उन के ब्राह्मणत्व में बाधा नहीं आती, किन्तु अछूत नित्य स्नान करता हो, कितना ही आचारवान हो, वह मन्दिर में नहीं जा सकता । क्या इसी नी

---

1. प्रेमचन्द - विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 454 -`पावन तिथि`

पर हिन्दू धर्म स्थिर रह सकता है ?'[1] प्रेमचन्द का यह प्रश्न कई दूसरे सन्दर्भों में आज भी वैसे ही खड़ा है । समाज के सत्ताधारी वर्ग का क़दम बराबर से खतरनाक रहा है । कोई भी क़दम विकास का कारण नहीं हो सकता । ऐसे ही विचारों से ओत-प्रोत प्रेमचन्द क़दम से दूर हटकर `हृदय-मंदिर` को खोलने की बात करते हैं ।[2]

अपने लेखों की ही भांति प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में भी दलितों के मंदिर-प्रवेश की समस्या को बड़ी गम्भीरता से चित्रित किया है । `कर्मभूमि` शीर्षक महत्वपूर्ण उपन्यास में ब्रह्मचारी जी ठाकुरद्वारे में कथा सुना रहे हैं । कुछ दलित जाति के लोग सबसे पीछे जूतों के पास बैठ कर कथा सुनते हैं । उनके इस कथा सुनने पर ब्रह्मचारी जी कहते हैं -`ये दुष्ट रोज यहां आते थे । रोज सब को छूते थे । इनका छुआ हुआ प्रसाद लोग रोज खाते थे । इससे बढ़ कर अनर्थ और क्या हो सकता है । धर्म पर इससे बड़ा आघात और क्या हो सकता है ?'[3] प्रेमचन्द ने लिखा है कि धर्मात्माओं के क्रोध का पारावार न रहा । इन धर्मात्माओं ने सेठ धनीराम और लाला समरकान्त को उकसाने पर इन दलितों को कथा सुन लेने जैसे अक्षम्य अपराध के लिए जूतों से पीटा । सोचने की बात है कि हम जिस समाज में रहते हैं, उसका चेहरा और मन कितना कुरूप है । लेकिन ऐसा नहीं कि सवर्ण समाज सिर्फ शोषकों से भरा पड़ा है । उसमें डा. शान्तिकुमार और स्वामी आत्मानन्द जैसे लोग भी होते हैं । डा. शांति कुमार शोषित-पीड़ित अछूतों से बड़ी पीड़ा के साथ कहते हैं -- `और तुम धर्मद्रोहियों, तुम सब के सब बैठ जाओ और जितने जूते खा सको, खाओ । तुम्हें इतनी सबर नहीं कि यहां सेठ महाजनों के भगवान रहते हैं । तुम्हारी

---

1. प्रेमचन्द - विविध प्रसंग - भाग 2, पृ० 449 -`अछूतों को मंदिर में जाने देना पाप है ?`
2. वही, पृ० 456 -`सनातन धर्म का प्रचार` ।
3. प्रेमचन्द - कर्मभूमि, पृ० 114

इतनी मजाल कि इन भगवान के मंदिर में कदम रखो । तुम्हारे भगवान कहीं किसी झोंपड़े या पेड़ तले होंगे । यह भगवान रत्नों के आभूषण पहनते हैं, मोहन-भोग , मलाई खाते हैं । चीथड़े पहनने वालों और चबेना खाने वालों की सूरत वह नहीं देखना चाहते ।'[1] उस सामन्तवादी उपनिवेश-वादी समय में इतने साफशब्दों में इतना पैना व्यंग्य प्रेमचन्द ही के बूते की बात थी । उन्होंने अपने एक लेख 'मंदिर प्रवेश और हरिजन' में भी इसी तरह साफ-साफ लिखा है कि -'हमने भगवान को मनौती से, घूस से, पैसे से, दक्षिणा से प्रसन्न होने वाला स्वार्थी बना रखा है । पग-पग पर हम पैसा देकर मुक्ति, नजात तथा स्वाधीनता चाहते हैं । यह हमारा धर्म है, भक्ति है, अनुराग है। ऐसी दशा में मंदिरों की इतनी महत्ता व्यर्थ की है ।'[2] प्रेमचन्द अपने को मूर्ति पूजा का विरोधी तो नहीं, लेकिन टका-पूजा का शत्रु बताते हैं । कोई भी संवेदनशील विवेकी प्राणी शोषण और पूंजी पर आधृत व्यवस्था का समर्थक नहीं हो सकता । 'कर्मभूमि' में ही डा. शांति कुमार वितृष्णा से तथाकथित धर्माचार्यों को चुनौती देते हुए कहते हैं कि - 'अंधे भक्तों की आंखों में धूल झोंक कर यह हलवे बहुत दिन खाने को न मिलेंगे महाराज, समझ गए ? अब वह समय आ रहा है, जब भगवान भी पानी से स्नान करेंगे, दूध से नहीं ।'[3] यहां यह रेखांकित करने की आवश्यकता है कि प्रेमचन्द का यह कथन स्वतन्त्र भारत में अनुमान से अधिक सत्य साबित हुआ ।

प्रेमचन्द जो स्वयं सोचते थे, वही डा. शान्तिकुमार से कहलाते हैं - 'मंदिर किसी एक आदमी या समुदाय की चीज नहीं है ।'[4] ईश्वर को जातियों से क्या लेना-देना । मंदिर तो मन को शुद्ध करने की जगह है और वहां पर

---

1. प्रेमचन्द - कर्मभूमि, पृ0 114
2. प्रेमचन्द - विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 466 -'मंदिर प्रवेश और हरिजन' ।
3. प्रेमचन्द - कर्मभूमि, पृ0 115
4. वही

कुबुद्धि का ऐसा नंगा नाच । कुछ लोग अपने निहित स्वार्थों के लिए मनुष्यता को ताक पर रख देते हैं । अपने समय के सच को रेखांकित करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है -` उच्च वर्ण वालों को ईश्वर को भी अपनी `स्त्री के समान अपनी ही वस्तु ` समझने की मूर्खता का परित्याग करना चाहिए ।`[1] त्याग तो उन्हें इस मूर्खता का भी कर देना चाहिए कि पत्नियां उन की सम्पत्ति है । अगर पति अपनी पत्नियों की सम्पत्ति नहीं हो सकते तो पत्नियां भी पतियों की सम्पत्ति नहीं हो सकतीं ।

`कर्मभूमि` में प्रेमचन्द दलितों पर होने वाले अनेक अत्याचारों का चित्रण करते हैं । डा. शान्तिकुमार मंदिरों में अछूतों के प्रवेश के लिए आन्दोलन करते हैं । उनके आन्दोलन का व्यापक विरोध होता है । मंदिर के पुजारी और लाला समरकान्त अपने विरोध को सफल बनाने के लिए सत्ता का सहयोग ले कर गोली चलवा देते हैं । उनकी दृष्टि में अछूतों को मंदिरों में जाने देना हिन्दू धर्म की जड़ खोदना है । इस आन्दोलन में डा. शांति-कुमार और सुखदा के नेतृत्व में अछूत मंदिरों में प्रवेश तो कर लेते हैं, लेकिन ढेर सारे घायल हो जाते हैं । स्वयं डा. शान्तिकुमार भी घायल होते हैं । यहां गौर करने पर एक बात साफ हो जाती है कि पण्डे-पुजारियों-सेठों-महाजनों और सामन्तों के घृणित स्वार्थों के कारण ही हमारे समाज का एक बड़ा वर्ग उपेक्षित और शोषित होता रहा है ।

`मंदिर` शीर्षक कहानी की नायिका सुखिया दलित है । वह अपने रोगी पुत्र के ठीक होने के लिए मंदिर में पूजा करना चाहती है । लेकिन पुजारी द्वारा अनुमति न मिलने के कारण वह ऐसा नहीं कर पाती है । रात में ज्यों-ज्यों रात बढ़ती है, उसके पुत्र जियावन की हालत खराब होती जाती है । वह घबराकर पुत्र को गोद में लिए मंदिर की ओर भागती है । मंदिर में ताला पड़ा देख कर वह उसे तोड़ डालती है । तोड़ने की आवाज से पुजारी जाग जाता है और उसके शोर मचाने से गांव के कई व्यक्ति इकट्ठे होकर

---

1. प्रेमचन्द - विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 466 - `मंदिर प्रवेश और हरिजन` ।

सुखिया को मारने लगते हैं । एक बलिष्ठ व्यक्ति द्वारा धक्का दिए जाने पर वह पुत्र समेत गिर पड़ती है । ठोस जमीन पर गिरने से उसके पुत्र जियावन की मृत्यु हो जाती है ।' यह है हमारा प्रेमचन्द युगीन भारतीय समाज । एक दलित स्त्री की आस्था है कि वह मंदिर में पूजा कर लेगी तो ईश्वर की कृपा से उसका पुत्र निरोग हो जाएगा । लेकिन तथाकथित सवर्णों की एक पूरी जमात न सिर्फ उसे रोकती है, बल्कि मनुष्यता को ताक़ पर रख कर उसे इस कदर मारती-पीटती है कि उसका प्राण-प्यारा पुत्र ही इस दुनिया से विदा हो जाता है । अस्पृश्यता और शोषण का इससे घृणित रूप और क्या हो सकता है ! यहां प्रश्न उठाने वाले प्रेमचन्द की प्रगतिशीलता पर प्रश्न उठा सकते हैं कि प्रेमचन्द एक दलित स्त्री को रोगी पुत्र की रक्षा के लिए डाक्टर की बजाए मंदिर में क्यों ले जाते हैं ? प्रश्न एक स्तर पर उचित भी प्रतीत होता है किन्तु जब हम तत्कालीन भारतीय समाज और हिन्दू मानस की ओर देखते हैं तो पाते हैं कि धर्म और ईश्वर में आस्था उन दिनों एक बड़ी चीज थी । गुलाम देश के लोग कर्म करते हुए भी एक सीमा तक ईश्वरवादी हो जाते हैं । यद्यपि ऐसा न हो तो ज्यादा उचित है । गुलामी में जी रहे स्वतन्त्रता के योद्धाओं के लिए ईश्वर एक आत्मबल की तरह था ।इसके साथ ही सदियों पुरानी उस व्यवस्था का प्रभाव सुखिया पर पड़ना था, जो सृष्टि के कण-कण में ईश्वर का वास मानते हुए भी उसकी पूजा-अर्चना के लिए मंदिरों का निर्माण कराती है । जिस व्यवस्था का आधार ही है कि ईश्वर ही सब कुछ करता है । चूंकि सुखिया पढ़ी-लिखी और किसी वैज्ञानिक विचारधारा से `लैस` नहीं है, अत: उसका पुत्र के प्राणों की रक्षा हेतु ईश्वर की शरण में जाना या जाने का प्रयास करना अस्वाभाविक अथवा लेखक का प्रतिक्रियावाद नहीं है । इस कहानी में एक और गूंज है । वह यह कि अगर सुखिया को लगता है कि उसका पुत्र मंदिर में पूजा कर लेने से ठीक हो जाएगा तो उसे क्यों रोका जाय ? जबकि उसके पास भी वैसा ही शरीर, वैसा ही खून और वैसी ही प्रकृति है, जैसा कि तथाकथित सवर्णों के पास । प्रेमचन्द की प्रगतिशीलता

इसी में है और किसी की भी हो सकती है कि अगर किसी की आस्था मंदिर में जाने की है और उसके जाने से समाज में समता की फसल लहलहा सकती है, तो उसको जाने देना ही मानवीय और सामाजिक दोनों दृष्टियों से श्रेयस्कर है ।

समाज में उपस्थित 'मंदिर' शीर्षक कहानी के खल-पात्रों को ध्यान में रख कर ही प्रेमचन्द ने लिखा था कि -'फिर क्यों न धर्म का संसार में ह्रास हो, क्यों न रूस वाले धर्म को अफीम का नशा समझें, क्यों न गिरजे ढाये जायं, और धर्म को कलंकित करने वाले इन स्तम्भों का समाज से बहिष्कार कर दिया जाय । विद्या अगर आदमी को उदार बनाती है, उस में सत्य और न्याय के ज्ञान को जगाती है, उसमें इन्सानियत पैदा करती है, तो वह विद्या है - अगर वह अभिमान बढ़ाती है, स्वार्थपरता की वृद्धि करती है तो वह अविद्या से भी बदतर है । ऐसी विद्या से मूर्खता हजार गुनी अच्छी । धर्म का मूल तत्व आत्मा की एकता है । जो आदमी इस तत्व को नहीं समझता, वह वेदों और शास्त्रों का पंडित होने पर भी मूर्ख है, जो दुखियों के दु:ख से दु:खी नहीं होता, जो अन्याय देख कर उत्तेजित नहीं होता, जो समाज में ऊंच-नीच, पवित्र-अपवित्र के भेद बढ़ाता है, वह पंडित होकर भी मूर्ख है ।'[1]

प्रेमचन्द के दलित सम्बन्धी चिन्तन पर विचार करते हुए डा. भीमराव अम्बेडकर की स्मृति बहुत जरूरी है । डा. अम्बेडकर ने गांधी जी द्वारा चलाए जा रहे दलितों के मंदिर प्रवेश के अधिकार सम्बन्धी आन्दोलन से अपना मतभेद प्रकट करते हुए अपना मन्तव्य प्रकट किया था कि अछूतों को मंदिर-प्रवेश की उतनी जरूरत नहीं है, जितनी इस बात की कि साधारण हिन्दू उन से

---

1. प्रेमचन्द - विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 447
'अछूतों को मंदिरों में जाने देना पाप है ?'

सज्जनता का व्यवहार करें और उन्हें अपने बराबर समझें ।[1] यहां कहने की आवश्यकता नहीं है कि अम्बेडकर का मत सौ प्रतिशत उचित था और आज भी है । किन्तु इस प्रश्न पर भी विचार आवश्यक है कि जो समाज जिस समाज को अपने मन्दिरों में पूजा के लिए नहीं जाने देता, वह उस से बराबरी का सम्बन्ध क्या बनाएगा । प्रेमचन्द ने लिखा है कि '...लेकिन इस बात का प्रमाण क्या होगा कि हिन्दू किसी अछूत से सज्जनता का व्यवहार कर रहा है । खाने-पीने की, सम्मिलित प्रथा अभी तक हिन्दुओं में ही नहीं है, अछूतों के साथ कैसे हो सकती है । शहरों के दो - चार सौ आदमियों के अछूतों के साथ भोजन कर लेने से यह समस्या हल नहीं हो सकती । शादी-व्याह इससे भी कठिन प्रश्न है । जब एक ही जाति की भिन्न-भिन्न शाखाओं में परस्पर शादी नहीं होती, तो अछूतों के साथ यह सम्बन्ध कैसे हो सकता है । ये दोनों ही प्रश्न अभी बहुत दिनों में हल होंगे, अर्थात् उस समय जब हिन्दू जाति भेद-भाव को मिटा देगी ।'[2] यहां 'मंत्र' का एक प्रसंग याद आता है । उसमें लीलाधर चौबे दलितों को सवर्णों के समकक्ष लाने वाले प्रचारकों में से हैं । वे सब को समता का पाठ पढ़ाते हैं । एक अछूत उन से प्रश्न करता है - 'मेरे लड़के से अपनी कन्या का विवाह कीजिएगा ?' चौबे जी इसका जो उत्तर देते हैं, वह गौर तलब है - 'जब तक तुम्हारे जन्म-संस्कार न बदल जाएं, जब तक तुम्हारे आहार-व्यवहार में परिवर्तन न हो जाय, हम तुम से विवाह का सम्बन्ध नहीं कर सकते, मांस खाना छोड़ो, मदिरा पीना छोड़ो, शिक्षा ग्रहण करो, तभी तुम उच्च वर्ण के हिन्दुओं में मिल सकते हो ।'[3] यहां सहज ही एक प्रश्न उठता है कि क्या उच्च वर्ण के हिन्दू मांस नहीं खाते, मदिरा नहीं पीते, अशिक्षित नहीं हैं ?

---

1. डा. अम्बेडकर - स्रोत - प्रेमचंद - विविध प्रसंग, भाग 2, पृ0 445 'हरिजनों के मन्दिर प्रवेश का प्रश्न ।'
2. वही, पृ0 446
3. प्रेमचन्द - मंत्र - इक्यावन श्रेष्ठ कहानियां, पृ0 415

जाहिर है सब का उत्तर सकारात्मक है । तब फिर क्या उन के वहां सवर्ण रिश्ता नहीं करते ? खूब करते हैं । फिर अछूतों के लिए इस प्रतिबन्ध का क्या मतलब हुआ ? कहने की आवश्यक्ता नहीं कि युग की सीमा के साथ-साथ यह एक सवर्ण का संशय भी था । यद्यपि इस सन्दर्भ में युग की सीमा का सर्वाधिक अतिक्रमण प्रेमचन्द ने ही किया । उनके योगदान को रेखांकित करते हुए प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने कहा है -'हिन्दी नवजागरण के निर्माताओं में प्रेमचन्द, निराला और राहुल सांकृत्यायन ही ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपने लेखन और चिन्तन में हिन्दी क्षेत्र की दलित समस्या से टकराने की कोशिश की है । हिन्दी नवजागरण का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष स्वाधीनता की चेतना है । उस स्वाधीनता की चेतना से जहां दलितों का सवाल जुड़ा है, वहीं हिन्दी नवजागरण की प्रगतिशीलता सचमुच सक्रिय दिखाई देती है ; क्योंकि वहां साम्राज्यवाद विरोध से सामन्तवाद विरोध जुड़ा हुआ है। यह बात प्रेमचन्द के लेखन में मिलती है । उनकी रचनाओं में भी और वैचारिक लेखन में भी । प्रेमचन्द ने एक जगह लिखा है कि हमारा स्वराज केवल विदेशी जुए से अपने को मुक्त करने मात्र से नहीं, बल्कि सामाजिक जुए - पाखण्डी जुए से भी, जो विदेशी शासन से अधिक घातक है, मुक्त होने पर ही संभव होगा । प्रेमचन्द वर्ण व्यवस्था और जातिप्रथा के अन्त को भारतीय राष्ट्रीयता की पहली शर्त मानते थे । उन्होंने लिखा भी कि राष्ट्रीयता की पहली शर्त वर्णव्यवस्था, ऊंच-नीच के भेद और धार्मिक पाखण्ड की जड़ खोदना है । राष्ट्रीयता की ऐसी चेतना और धारणा उस समय के किसी अन्य हिन्दी लेखक में शायद ही मिले ।'[1] कहने का आशय यह है कि तत्कालीन भारतीय समाज में जो पाखण्ड, कुरीतियां, अन्ध-विश्वास, शोषण, लिंग भेद, जाति भेद और साम्प्रदायिकता जैसी भावनाएं थीं, प्रेमचन्द ने उन सब के विरुद्ध संघर्ष किया । उनकी लेखनी ने इन कुरूप चीजों को जड़ से खोदने का भरपूर प्रयास किया । उनके लेखन को महज

---

1. प्रो० मैनेजर पाण्डेय से साक्षात्कार से - युद्धरत आम आदमी दलित साहित्य अंक, पृ० 189, सम्पादक रमणिका गुप्ता

सहानुभूति का लेखन कह कर टालना उचित नहीं है ।

आज आरक्षण की बात हो रही है । कहना चाहिए कि आरक्षण पर आधृत राजनीति हो रही है । हमारे रहनुमाओं को इस बात से कुछ लेना-देना नहीं है कि दलितों-पिछड़ोंका कुछ भला हो रहा है अथवा नहीं । उन्हें महज वोट और सत्ता का सुख चाहिए । प्रेमचन्द को दलितों की स्थिति का उचित ज्ञान था । उनकी दृष्टि में भी इनके लिए विशेष सुविधा की आवश्यकता थी । उन्होंने 26 दिसम्बर 1932 को अपने लेख `पावन तिथि` में साफ-साफ लिखा कि -`असल समस्या तो आर्थिक है । यदि हम अपने हरिजन भाइयों को उठाना चाहते हैं तो हमें ऐसे साधन पैदा करने होंगे जो उन्हें उठने में मदद दें । विद्यालयों में उनके लिए वजीफे करने चाहिएं, नौकरियां देने में उन के साथ थोड़ी सी रियायत करनी चाहिए ।`[1] प्रेमचन्द चाहते थे कि दलितों में शिक्षा का प्रचार-प्रसार हो, जिससे वे अपने जीवन और अपने समाज के अन्धकार को दूर करके ज्ञान के प्रकाश में अपनी अर्थवत्ता को महसूस कर सकें । जब वे शिक्षित होंगे तो अपने दु:ख-दर्द को वाणी दे सकेंगे और उसके विरुद्ध संघर्ष भी कर सकेंगे । यहां एक और बात की ओर ध्यान जाता है कि प्रेमचन्द अलग से हरिजन छात्रालयों के पक्ष में न थे । उन्हें लगता था कि इससे दूरी और बढ़ेगी ।[2] उनका मानना था कि जिस छात्रावास में सवर्ण जातियों के बालक रहें, उन्हीं में हरिजन बालकों को भी उन्हीं सुविधाओं और बराबरी के साथ रखा जाए । ऐसा होने पर दलित छात्रों के मन में कुण्ठा न बनेगी और उन में आत्म बल भी आस्था जो उन के विकास में योगदान करेगा । आज प्रेमचन्द की इस धारणा पर विचार करते हुए प्रतीत होता है कि प्रेमचन्द बड़े भविष्यद्रष्टा थे । आज का समाज प्रेमचंद

---

1. प्रेमचन्द - विविध प्रसंग, भाग 2, पृ0 455 -`पावन तिथि` ।
2. वही, पृ0 450 -`हरिजन बालकों के लिए छात्रालय` ।

की यह राय जाने-अनजाने पूरी तरह मानने को बाध्य है, और यह बाध्यता बहुत सुखद है ।

प्रेमचन्द के समक्ष बड़प्पन की अवधारणा को लेकर कोई दुविधा न थी । उन्होंने साफ-साफ लिखा है -`बड़प्पन दूसरों को नीच समझने में नहीं, सज्जनता और शिष्टता में है ।`[1] उन्होंने `सरनेम` के आधार पर अपनी श्रेष्ठता बघारने वालों की जम कर खबर ली है । अपने लेख `महान तप` में उन्होंने लिखा है -`क्या अब भी हम अपने बड़प्पन का, अपनी कुलीनता का ढिंढोरा पीटते फिरेंगे । यह ऊंच-नीच, छोटे-बड़े का भेद हिन्दू-जीवन के रोम-रोम में व्याप्त हो गया है । हम यह किसी तरह नहीं भूल सकते कि हम शर्मा हैं, या वर्मा, सिन्हा हैं या चौधरी, दूबे हैं या तिवारी, चौबे हैं या पाण्डे, दीक्षित हैं या उपाध्याय । हम आदमी पीछे हैं, दूबे या तिवारी पहले ।`[2] इसी लेख में वे आगे लिखते हैं -`कोई आदमी कुरान कण्ठ करके हाफिज हो सकता है, लेकिन यहां जो वेदों के ज्ञाता हैं, वे चतुर्वेदी नहीं कहे जा सकते । चतुर्वेदी तो वे हैं, जिन्होंने वेदों के दर्शन भी नहीं किए । यह और कुछ नहीं, अपनी कुलीनता का ढिंढोरा पीटना है, अपने अहंकार का बिगुल बजाना है । हम अपने को त्रिवेदी लिखकर मानो गला फाड़ कर चिल्लाते हैं कि `हम और सब प्राणियों से ऊंचे हैं, हमें दंडवत करो, हमारा चरण-रज माथे पर लगाओ । हम इतने लज्जा-शून्य हो गए हैं ।`[2] यहां बहुत साफ है कि इसमें प्रेमचन्द का आशय वेद से उतना नहीं है, जितना उस अनावश्यक श्रेष्ठता से, जिसके छद्म का वे भंडाफोड़ कर रहे थे ।

प्रेमचन्द ने एक ओर दलितों के मंदिर प्रवेश का पक्ष लेते हुए लेख लिखे, कहानियां लिखीं तो दूसरी ओर मंदिरों में व्याप्त भ्रष्टाचार और व्यभिचार पर भी जमकर लिखा । वे अच्छी तरह जानते थे कि पुजारियों का

---

1. प्रेमचन्द - विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 464 - `महान तप` ।
2. वही ।

चारित्रिक पतन हो चुका है । उन्होंने अपने पहले उर्दू उपन्यास 'असरारे मआबिद' में तत्कालीन मंदिरों में प्रचलित भोग-विलास का चित्रण किया है । महादेव त्रिलोश्वरनाथ मंदिर का महन्थ त्रिलोकीनाथ अत्यन्त कामी और व्यभिचारी पुरुष है । वह मंदिर में आने वाली युवतियों को छल-प्रपंच से अपने जाल में फंसा कर उन्हें अपनी वासना-पूर्ति का शिकार बनाता है । मौका पाते ही वह धन-धान्य पर भी हाथ साफ कर देता है । मंदिर में नित्य कोई न कोई उत्सव होता रहता है, और इन उत्सवों में वेश्याएं नृत्य करती हैं । प्रेमचन्द ने त्रिलोकीनाथ के कलंकित व्यक्तित्व को रेखांकित करते हुए लिखा है -'यह जो आप महंथ जी के माथे पर लाल निशान देख रहे हैं, यह चंदन के निशान नहीं, बल्कि इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि हजरत ने न्याय और धर्म का खून कर डाला है । आप जो इनके गले में मोहनमाला देख रहे हैं, यह असल में लोभ का फंदा है जो आप को खूब कस कर जकड़े हुए हैं । सिर पर तिरछी रखी हुई टोपी आपकी अक्ल के तिरछेपन को जाहिर कर रही है । आपके शरीर पर रंग-बिरंगी मिर्जई नहीं है, बल्कि अंधविश्वासों को सब्जबाग दिखाने का यन्त्र है जो आपकेहृदय के अन्धकार और कालिमा के ऊपर पर्दे की तरह पड़ा हुआ है ।'[1] इस ढलती हुई सदी के पहले दशक में यह लिखना बहुत साहस का काम था ।

अपने उपन्यास 'सेवासदन' में भी प्रेमचन्द मंदिरों और सवर्ण समाज की जमकर खबर लेते हैं । यहां एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा । प्रसंग है भोली नामक वेश्या के नृत्य का । प्रेमचन्द लिखते हैं -'सुमन ने खिड़की से आंगन में झांका तो क्या देखती है कि वही उसकी पड़ोसिन भोली बैठी हुई गा रही है । सभा में एक से एक बड़े आदमी बैठे हुए थे, कोई तिलक लगाए, कोई भस्म रमाए, कोई गले में कंठी माला डाले और रामनाम की

---

1. प्रेमचन्द - असरारे मआबिद - स्रोत - प्रेमचन्द युगीन भारतीय समाज - डा. इन्द्रमोहन कुमार सिन्हा, पृ0 308

चादर ओढ़े, कोई गेरूए वस्त्र पहने । उनमें से कितनों ही को सुमन नित्य गंगा-स्नान करते देखती थी । वह उन्हें धर्मात्मा, विद्वान समझती थी । वही लोग यहां इस भांति तन्मय हो रहे थे, मानो स्वर्ग लोक में पहुंच गए हैं । भोली जिनकी ओर कटाक्षपूर्ण नेत्रों से देखती थी, वह मुग्ध हो जाता था, मानो साक्षात् राधाकृष्ण के दर्शन हो गए ।'[1] इसी क्रम में 'शिकारी राजकुमार' कहानी का जिक्र किया जा सकता है । इस कहानी में एक संन्यासी हैं जो एक राजकुमार को आधी रात में एक दृश्य दिखलाने हेतु एक विशाल महल के पास रोक लेते हैं । प्रेमचन्द उस भवन के भीतर के उल्लास-विलास को वर्णित करते हुए लिखते हैं -'एकाएक महल के समीप कुछ हलचल मालूम हुई और बैठक के द्वार खुल गए । मोमबत्तियों के जलने से सारा हाता प्रकाशमान हो गया । कमरे के हर कोने में सुख की सामग्री दिखाई दे रही थी । बीच में एक हृष्ट-पुष्ट मनुष्य गले में रेशमी चादर डाले, माथे पर केसर का लम्बाकार तिलक लगाए, मसनद के सहारे बैठा सुनहरी मुंहनाल से लच्छेदार धुआं फेंक रहा था । इतने में ही उन्होंने देखा कि नर्तकियों के दल-के-दल चले आ रहे हैं । उनके हाव-भाव व कटाक्ष चलने लगे । समाजियों ने सुर मिलाया । गाना आरम्भ हुआ और साथ ही साथ मद्यपान भी चलने लगा ।'

राजकुमार ने अचंभित होकर पूछा - यह तो कोई बहुत बड़ा रईस जान पड़ता है ?

संन्यासी ने उत्तर दिया - नहीं, यह रईस नहीं, एक बड़े मंदिर के महंथ हैं, साधु हैं ।'[2]

यहां याद रखने की आवश्यकता है कि असरारे मआबिद, सेवासदन और शिकारी राजकुमार के ये पाखण्डी ही हिन्दू समाज का नेता बन कर एक बड़े वर्ग को अछूत और नीच कहते हुए उनके मंदिर प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा

---

1. प्रेमचन्द - सेवासदन, पृ0 41-42
2. प्रेमचन्द - शिकारी राजकुमार - मानसरोवर, भाग 8, पृ0 60

रहे थे । अपने तो आकण्ठ व्यभिचार में डूबे थे किन्तु उन्हें भी पूजा नहीं करने देते थे जो सचमुच आस्थावान थे । और तो और उनका जीवन नरक बनाए हुए थे । प्रेमचन्द की पैनी दृष्टि ने इन सब को इनके-इनके खोल से बाहर करके इनकी असलियत दुनिया के सामने रख दी ।

प्रेमचन्द समाज में समता लाने के लिए हरसंभव प्रयास करने को तैयार थे तो सवर्ण समाज के खलनायकों की एक पूरी जमात उन्हें अपमानित-लांछित करने का हर संभव प्रयास कर रही थी । सन् 1931 में प्रेमचन्द की अत्यन्त मार्मिक और यथार्थवादी कहानी `सद्गति` प्रकाशित हुई । कहानी का नायक दु:खी चमार अपनी बेटी के विवाह का लग्न निकलवाने के लिए पंडित जी के घर जा कर `चिरौरी-मिनती` करता है । पंडित जी काम स्वीकार करते हैं और थोड़ी देर से जाने की बात कह कर बदले में उससे बेगार लेने हेतु एक `मोटी सी गांठ` फाड़ने के लिए दे देते हैं । वह गांठ फाड़ते हुए बीड़ी पीने की इच्छा से पंडिताइन से थोड़ी सी आग मांगता है । पंडिताइन छू जाने के डर से आग उसके ऊपर ही फेंक देती हैं, और वह जल जाता है । यहां गौर करने की बात है कि उसकी फाड़ी और छुई हुई लकड़ी पर खाना बनाने से पंडिताइन को कोई परहेज नहीं है । लेकिन उसकी देह से छू जाने का अपार डर भरा पड़ा है । प्रेमचन्द इस ढोंग को बेपर्दा कर रहे थे । आगे इसी कहानी में दु:खी चमार उस गांठ को फाड़ते-फाड़ते मर जाता है । यह सवर्ण समाज की दरिन्दगी का दूसरा उदाहरण बनता है । तीसरी महत्वपूर्ण बात जिसे प्रेमचन्द ने रेखांकित किया है, वह है दलितों का विरोध स्वरूप लाश को न उठाना । और चौथी बात कि दलित कहीं कोई हंगामा न खड़ा कर दें, इस डर से उस अछूत को रस्सी के फंदे से बांध कर घसीटते हुए गांव के बाहर खेत में डाल आते हैं, जहां गिद्ध, कौए और तमाम जानवर उस मनुष्य की देह को नोचते हैं । एक गिद्ध जीवन में नोचता है और दूसरा मृत्यु के बाद । पंडित जी जिस की लाश को छू नहीं सकते थे, उसी की लाश को मारे डर के अपने कन्धे के सहारे खींचते हुए ले जाते हैं और फिर नहा-धो कर पवित्र होने का ढोंग

करते हैं । इस प्रभावशाली यथार्थवादी कहानी पर चारों ओर से टिप्पणियों की बौछार होने लगी । ठाकुर श्रीनाथ सिंह नाम के एक सम्पादक ने मुख्यत: इसी कहानी का हवाला देते हुए `घृणा के प्रचारक प्रेमचन्द` शीर्षक लेख लिख डाला । इसमें उन्होंने दु:ख व्यक्त किया कि प्रेमचन्द की रचनाओं में सैंकड़ों ऐसे स्थल हैं जहां हिन्दुओं और पंडितों को अत्यन्त घृणित रूप में उपस्थित किया गया है । जिन दिनों श्रीनाथ सिंह ने यह लेख लिखा, वे युवा थे । अभी कुछ महीनों पूर्व ही उनकी मृत्यु हुई है और आश्चर्यजनक रूप से मृत्यु के समय तक उनके विचारों में कोई ख़ास परिवर्तन नहीं आया था ।[1] इन्हीं के एक और मित्र पंडित ज्योतिप्रसाद `निर्मल` ने भी उन्हीं दिनों प्रेमचन्द जी पर तरह-तरह के आक्षेप लगाए । चूंकि प्रेमचन्द सच्चे हृदय से ऊंच-नीच, छूत-अछूत, ढोंग-व्यभिचार आदि को जड़ से समाप्त करने के लिए प्रतिबद्ध थे, इसलिए बिना किसी घबराहट के उन्होंने इन समस्त आक्षेपों का बहुत तार्किक और व्यवस्थित जवाब उपस्थित किया । भारत में प्रकाशित `निर्मल` जी के लेख की मुख्य चिन्ता थी कि प्रेमचन्द ने अपनी तीन-चौथाई कहानियों में ब्राह्मणों को काले रंगों में चित्रित करके अपनी संकीर्णता का परिचय दिया है, जो उन की रचनाओं पर अमिट कलंक है ।[2] प्रेमचन्द ने अपनी अस्वस्थता के दौर में इसका उत्तर देते हुए लिखा -`हम कहते हैं कि अगर हममें इतनी शक्ति होती, तो हम अपना सारा जीवन हिन्दू-जाति को पुरोहितों, पुजारियों, पंडों और धर्मोपजीवी कीटाणुओं से मुक्त कराने में अर्पण कर देते । हिन्दू जाति का सबसे घृणित कोढ़, सब से लज्जाजनक कलंक यही टकैपंथी दल हैं, जो एक विशाल जोंक की भांति उसका खून चूस रहा है, और हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में यही सबसे बड़ी बाधा है । राष्ट्रीयता की पहली शर्त है, समाज में साम्यभाव का दृढ़ होना । इसके बिना राष्ट्रीयता की कल्पना ही नहीं की जा सकती । ... हम नहीं

---

1. `वागर्थ` में प्रकाशित साक्षात्कार के आधार पर ।
2. विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 471 -`क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं ।`

समझते, आज कोई भी विचारवान हिन्दू ऐसा है, जो इस टकेपंथी दल को चिरायु देखना चाहता हो, सिवाय उन लोगों के जो स्वयं उस हल में हैं और चखौतियां कर रहे हैं ।'[1] यहां यह बात बिल्कुल साफ है कि अपने लेखन के पीछे प्रेमचन्द की मंशा क्या थी । उन्होंने अपने इसी लेख में 'ब्राह्मण' को परिभाषित करते हुए लिखा है -'ब्राह्मण वह है, जो निस्पृह हो, त्यागी हो और सत्यवादी हो ।'[2] यहां हम गोदान का वह प्रसंग याद कर सकते हैं जब मातादीन सिलिया को स्वीकार करते हुए कहता है कि जो अपना धर्म पाले, वही ब्राह्मण और जो धर्म से मुंह मोड़े वही चमार है ।'[3] ब्राह्मण वह नहीं जो प्रातःकाल आप के द्वार आकर करताल बजाते हुए -'निर्मल पुत्र देहि भगवान' की हांक लगाने लगते हैं, या गनेश-पूजा और गौरी पूजा और अल्लम-गल्लम पूजा पर यजमानों से पैसे रखाते हैं, या गंगा में स्नान करने वालों से दक्षिणा वसूल करते हैं, या विद्वान होकर ठाकुर जी या ठकुराइन जी के शृंगार में अपना कौशल दिखाते हैं, या मंदिरों में मखमली तकिए लगाए वेश्याओं का नृत्य देखकर भगवान से लौ लगाते हैं ।'[4] कोई भी विवेकशील प्राणी किसी जाति या धर्म से क्योंकर विरोध रखेगा ? उसका विरोध तो जाति या धर्म की पतनशील प्रवृत्तियों से होता है । ऐसी ही पतनशील प्रवृत्तियों के स्वामियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने लिखा है -'राष्ट्रवाद ऐसे उपजीवी समाज को घातक समझता है, और समाजवाद में तो उसके लिए स्थान है ही नहीं । और हम जिस राष्ट्रीयता का स्वप्न देख रहे हैं, उसमें तो जन्मगत वर्णों की गन्ध तक न होगी ; वह

---

1. प्रेमचन्द - विविध प्रसंग, भाग 2, पृ0 471 - 'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं ?'
2. वही, पृ0 472
3. गोदान, पृ0 289
4. प्रेमचन्द - विविध प्रसंग, भाग 2, पृ0 472-73 - 'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं ?'

हमारे श्रमिकों और किसानों का साम्राज्य होगा, जिसमें न कोई ब्राह्मण होगा, न हरिजन, न कायस्थ, न क्षत्रिय । उसमें सभी भारतवासी होंगे, सभी ब्राह्मण होंगे या सभी हरिजन होंगे ।'[1] प्रेमचन्द ने जो विरोध फैला, वह यही सिद्ध करता है कि किसी भी युग में किसी उच्च आदर्श के लिए लड़ना सहज नहीं होता । 'कर्मभूमि' शीर्षक उपन्यास में प्रेमचन्द ने दलित समस्या पर विस्तार से लेखनी चलाई है और नायक अमरकान्त के मुंह से अपनी ही बात कही है कि - 'मैं जाति-पांत नहीं मानता, माता जी जो सच्चा है, वह चमार भी हो तो आदर के योग्य है । जो दगाबाज, झूठा, लंपट हो, वह ब्राह्मण भी हो, तो आदर के योग्य नहीं है ।'[2] अपने सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपन्यास गोदान में तो प्रेमचन्द ने दलितों के साहस का चित्रण करके भारतीय समाज पर बड़ा भारी उपकार किया । मातादीन सिलिया को भोग का शौक देता है क्योंकि अछूत है । उसके साथ सोने से परहेज नहीं, लेकिन उससे विवाह नहीं कर सकते । प्रेमचन्द ने इस ढोंग का खूब मजाक उड़ाया है और साथ ही समाज के बदलते तेवर का महत्वपूर्ण संकेत भी दिया है । यह बात इन दो कथनों से सिद्ध की जा सकती है । पहला, सिलिया की मां अपना दुःख और क्रोध व्यक्त करते हुए मातादीन से कहती है -'तुम बड़े नेमी धरमी हो । उसके साथ सोओगे, लेकिन उसके हाथ का पानी न पीओगे । यही चुड़ैल है कि सब सहती है । मैं तो ऐसे आदमी को माहुर दे देती ।'[3] दूसरा, सिलिया का बूढ़ा पिता ललकारते हुए कहता है -'सिलिया कन्या जात है, किसी न किसी के घर जायगी ही। इस पर हमें कुछ नहीं कहना है, मगर उसे जो कोई भी रखे, हमारा होकर रहे । तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं ।

---

1. प्रेमचन्द - विविध प्रसंग, भाग 2, पृ0 473 -'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं ?'
2. प्रेमचन्द - कर्मभूमि, पृ0 82
3. प्रेमचन्द - गोदान, पृ0 208

हमें ब्राह्मण बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है । जब यह समरथ नहीं है, तो फिर तुम भी चमार बनो । हमारे साथ खाओ-पीओ, हमारे साथ उठो-बैठो । हमारी इज्जत लेते हो तो अपना धरम हमें दो ।'[1] और गोदान में दलित सिर्फ इतना कहते भर नहीं हैं, बल्कि मातादीन के मुंह में हड्डी का टुकड़ा डालते हैं कि तुमने हमारी इज्जत ली है, हम तुम्हारा धर्म भ्रष्ट करेंगे । किन्तु गहराई से विचार करें तो उस व्यक्ति के पास कौन सा धर्म है जो एक स्त्री को भोग कर छोड़ देता है ? उससे बड़ा विधर्मी तो ढूंढे न मिलेगा । फिर उसके धर्म के भ्रष्ट होने न होने का कैसा प्रश्न ! ऐसे लम्पटों के साथ ऐसा व्यवहार भी धमर्तिकूल है ।

'गोदान' के ये प्रसंग अम्बेडकर के आन्दोलनों की याद दिलाते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे प्रेमचन्द दलित समस्या के सम्बन्ध में डा. अम्बेडकर के विचारों को महत्वपूर्ण मानने लगे थे, अन्यथा ऐसे क्रांति-कारी चरित्रों और घटनाओं का सृजन उस काल में संभव न था । यद्यपि प्रभाव चाहे जो हो, लेकिन सन् 1930 से 1936 ई. तक का दलितों से सम्बन्धित प्रेमचन्द का लेखन वर्णाश्रम की चूलें हिला गया ।

प्रेमचन्द के दलितों से सम्बन्धित लेखन पर विचार करते हुए उनकी कुछ अन्य महत्वपूर्ण कहानियों का विवेचन भी जरूरी जान पड़ता है । इन कहानियों में भारतीय समाज, खास कर हिन्दू समाज का अपराधी चेहरा साफ-साफ दिखता है । 'जुरमाना' शीर्षक कहानी की नायिका अलारक्खी दिन भर सड़क की गन्दगी साफ करती है । इसके बावजूद उसका शोषण होता है । उसका अधिकारी दया दिखाकर उसका शोषण करता है । कितनी बड़ी विडम्बना है कि इस समाज के सबल लोग निर्बलों को कभी डरा-धमका कर तो कभी लालच देकर, कभी दया दिखाकर तरह-तरह से दबाते रहते हैं । उन्हें बस अपने स्वार्थ की चिन्ता रहती है ।

---

1. प्रेमचन्द - गोदान, पृ0 208

सन् 1932 में प्रकाशित प्रेमचन्द की `ठाकुर का कुआं ` कहानी एक महान रचना है । महान इस अर्थ में कि जो कुछ कहना है, वह इतने सफल और प्रभावशाली ढंग से कहा गया है कि पढ़ने वाला भीतर तक हिल जाता है । यह कहानी सद्गति के बाद प्रकाशित हुई थी । इस सन्दर्भ में प्रो० नामवर सिंह कहते हैं -`यद्यपि मेरी राय है कि `सद्गति` और `ठाकुर का कुआं ` दोनों कहानियों को एक साथ पढ़ा जाना चाहिए । वे परस्पर पूरक हैं । `सद्गति` में है कि पुरोहित वर्ग से दलित का क्या रिश्ता है और पुरोहित वर्ग का आधार तथाकथित धर्म हुआ करता है । मैंने कहा -`तथाकथित धर्म ` यानी धर्म का वह रूप जिसे मैं कर्मकाण्ड भी नहीं कहूंगा, बल्कि अत्यंत विकृत रूप कहूंगा, जिस अर्थ में तुलसीदास ने लिखा था कि -`बेचहिं वेद धरम दुहि लेहीं ।` इसलिए जो वेद को बेचने वाले और धर्म को दुह करके पैसा वसूल करने वाले मक्खीचूस हैं, उन्हीं की तरह सद्गति में धर्म का एक ठेकेदार है, जिसके द्वारा शोषण होता है और उसका ठीक दूसरा पहलू है -`ठाकुर का कुआं ` जहां लाठी के बल पर, आतंक के बल पर जो भू-स्वामी है, वह कैसे दमन करता है । शोषण के ये दोनों पहलू हैं, इसलिए प्रेमचन्द दलितों पर होने वाले अत्याचार को चाहे वे आर्थिक हों, सामाजिक हों, धार्मिक हों या ताकत से सम्बन्ध रखने वाले हों, उन सभी पहलुओं को एक-एक करके अलग-अलग कहानियों में लेते हैं । इस दृष्टि से `सद्गति` और `ठाकुर का कुआं ` कहानी पढ़ी जानी चाहिए ।`[1] इस कहानी में नायक जोखू बीमार है और जो पानी पी रहा है, उसमें से दुर्गन्ध आ रही है । उससे पानी पिया नहीं जा रहा है । उसकी पत्नी `गंगी` उसे रोकती है कि दूसरा पानी ला देती हूं, लेकिन फिर सोचती है -`ठाकुर के कुएं पर कौन चढ़ने देगा । दूर ही से लोग डांट बतायेंगे । साहू का कुआं गांव के उस सिरे पर है, परन्तु वहां भी कौन पानी भरने देगा ? कोई दूसरा कुआं गांव में है

---

1. प्रो. नामवर सिंह - कर्मभूमि (स्मारिका) - संपादक डा. सदानन्द शाही, पृ० 9

नहीं ।'[1] जोखू उसे रोकते हुए समझाता है कि पानी तो पाएगी नहीं, उल्टे हाथ पैर तुड़ा आएगी । वह कहता है -'वामन देवता आशीर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे, साहू जी एक के पांच लेंगे, गरीबों का दर्द कौन समझता है । एक आशीर्वाद देंगे, पानी न देंगे, एक लाठी मारेंगे पानी न देंगे, एक एक के पांच लेंगे, फिर भी पानी न देंगे ।'[2] प्रो० नामवर सिंह इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं -'प्रेमचन्द ने जो विषय चुना, वह जीवन की निहायत जरूरी चीज - अदना सी चीज पानी है । रोटी के बिना काम चल सकता है । रोटी नहीं, कपड़ा नहीं, मकान नहीं, मनुष्य-मनुष्य का इतना दूर तक दमन कर सकता है कि साधारण सा चीज पानी जो सहज मिलना चाहिए, वही पानी नहीं मिल रहा है जबकि कुएं भरे पड़े हैं । यहां प्रेमचन्द एक साथ तीनों वर्णों को पूरी चर्चा में ले आते हैं ।'[3] फिर गंगी ठाकुर के कुएं पर पानी भरने जाती है और वहां से प्राण बचा कर बिना पानी के ही लौट आती है । देखती है जोखू वही गन्दा पानी पी रहा है । इस बीच कहानी घूमती है । सवर्ण घरों में स्त्रियों की स्थिति पर थोड़े में बहुत प्रकाश डालती हुई दलित समस्या पर समाप्त होती है । प्रेमचन्द इस कहानी में चित्रित करते हैं कि अपनी स्त्रियों को लौंडी समझने वाले ये तथाकथित उच्च वर्ण के लोग गंगी जैसी दलित स्त्रियों को भोगना तो चाहते हैं, लेकिन उन्हें अपने कुएं से पानी नहीं भरने देते । कितनी बड़ी विडम्बना है कि देह तो चाहिए, लेकिन दिन के उजाले में छुत-छात बरतते हुए, अन्यथा उनका धर्म भ्रष्ट हो जाएगा । प्रेमचन्द सवर्ण समाज के इन पाखण्डों के विरुद्ध तीव्र घृणा पैदा करते हैं । 'ठाकुर का कुआं ' कहानी पर विशेष टिप्पणी करते हुए प्रो० मैनेजर पाण्डेय कहते हैं -'प्रेमचन्द की

---

1. प्रेमचन्द - ठाकुर का कुआं - मानसरोवर, भाग 1, पृ० 142
2. वही
3. प्रो० नामवर सिंह - कर्मभूमि (स्मारिका) - संपादक डा. सदानन्द शाही, पृ० 12

राजनीतिक और सामाजिक चेतना उनकी कहानियों और उपन्यासों में अत्यन्त प्रभावशाली रूप में व्यक्त हुई है । ठाकुर का कुआं, सद्गति, दूध का दाम, मंत्र जैसी कहानियों में हिन्दू समाज व्यवस्था के भीतर दलितों की दयनीय और दर्दनाक दशा का चित्रण है, तो गोदान जैसे उपन्यास में अपने अधिकारों और सम्मान के लिए दलितों के साहसपूर्ण संघर्ष का वर्णन है । चेखव की प्रसिद्ध कहानी `वार्ड नं. 6` को पढ़कर लेनिन ने कहा था कि उस समय का सारा रूसी समाज `वार्ड नं. 6` लगता है । प्रेमचंद की कहानी `ठाकुर का कुआं ` को सावधानी से पढ़ने वाला प्रत्येक पाठक यह अनुभव करता है कि पूरा सवर्ण हिन्दू समाज ही `ठाकुर का कुआं ` है, जिस के पास दलितों को जाने तक की स्वतन्त्रता नहीं है । यही कारण है कि मराठी के दलित लेखक प्रेमचन्द का बहुत सम्मान करते हैं ।[1] प्रेमचन्द का लेखन भारतीय समाज की आंखें खोलता है ।

प्रेमचन्द ने सन् 1934 ई० में `दूध का दाम` कहानी लिखी । पाठक को भीतर तक भेदने वाली यह कहानी प्रेमचन्द की चेतना और कला का विलक्षण उदाहरण है । इस कहानी की नायिका `भूंगी` उच्चवर्णी महेश नाथ जी के घर जच्चे खाने में काम कर रही है । उनके वहां तीन बेटियों के बाद बेटा पैदा हुआ है । सब प्रसन्न हैं, लेकिन समस्या है कि महेशनाथ की पत्नी को दूध नहीं होता है । ऐसे में अपने नवजात शिशु को दूध न पिला कर भूंगी महेश जी के पुत्र को दूध पिलाने लगती है । विडम्बना या पाखण्ड देखिए कि अपने पुत्र की जान बचाने के लिए उन्हें एक दलित स्त्री के दूध में कोई छूत नजर नहीं आती । लेकिन प्रेमचन्द इतने पर ही नहीं छोड़ते हैं । उसके पुत्र का स्वास्थ्य गिर जाता है । पिता पहले मर चुके हैं और एक दिन महेश जी के घर का परनाला साफ करते हुए सांप काटने से उसकी मां भूंगी भी मर जाती है । मंगल पूरी तरह अनाथ हो जाता है और महेश बाबू के घर

---

1. प्रो० मैनेजर पाण्डेय - साक्षात्कार से - युद्धरत आम आदमी (पत्रिका) - दलित साहित्य अंक, पृ० 189-90, संपादक - रमणिका गुप्त

के जूठन पर पलने लगता है । जिसके हिस्से का दूध महेश बाबू का बेटा अपना अधिकार समझ कर पी जाता था, उसी मंगल को घर भर के खाने के बाद पेट भरने के लिए जूठन मिलता है । इतना ही नहीं, उस अबोध को रहने के लिए मकान के सामने के नीम के पेड़ की छांव मिलती है । महेश बाबू किसी अछूत को घर में कैसे रहने देते । नीचता और पाखण्ड की अति देखिए कि अछूत का दूध पवित्र है, लेकिन उसकी देह (ख़ास कर पुरुष की तो और !) पूर्णत: अपवित्र । प्रेमचन्द उसके (मंगल के) विषय में लिखते हैं -'उसका कोई अपना था, तो गांव का कुत्ता, जो अपने सहवर्गियों के जुल्म से दु:खी होकर मंगल की शरण आ पड़ता था । दोनों एक ही खाना खाते, एक ही टाट पर सोते, तबियत भी दोनों की एक सी थी और दोनों एक दूसरे के स्वभाव को जान गए थे ।'[1] इतना ही नहीं गांव वालों की टिप्पणी भी हमारी खोखली सामाजिक व्यवस्था के सच को अभिव्यक्त करती है । प्रेमचन्द ने लिखा है -'गांव के धर्मात्मा लोग बाबू साहब की इस उदारता पर आश्चर्य करते । ठीक द्वार के सामने पचास हाथ भी न होगा - मंगल का पड़ा रहना उन्हें सोलहो आने धर्म विरुद्ध जान पड़ा । छि: । यही हाल रहा, तो थोड़े ही दिनों में धर्म का अन्त ही समझो ।'[2] यहां ध्यान देने की आवश्यकता है कि मंगल को इस तरह रखना उदारता है तो अनुदारता कितनी भयानक होगी या अगर उसे दरवाजे से हटा देना धर्म है तो 'धर्म' की परिभाषा क्या है ? 'गांव वाले संकोचवश उस घर तक जाते हैं अन्यथा उन्हें मंगल के वहां होने से घृणा होती है ।' कहने की आवश्यकता नहीं कि घृणा तो इस मानसिकता के लोगों से होती है जो हाड़-मांस के मनुष्यों को कर्म के आधार पर नहीं, जाति के आधार पर बांट कर देखते-समझते हैं ।

---

1. प्रेमचन्द - दूध का दाम - मानसरोवर, भाग 2, पृ0 208
2. वही

प्रेमचन्द को हिन्दू समाज व्यवस्था के प्रति किसी प्रकार का भ्रम न था । वे अपने तीक्ष्ण विवेक और पैनी दृष्टि से इस समाज के समस्त कुकर्मों और पाखण्डों का खुलासा करके उसके इस कुरूप चेहरे के प्रति सार्थक घृणा पैदा करते हैं । `कफन` शीर्षक विवादास्पद कहानी में प्रेमचन्द ने यही चित्रित करना चाहा है । यद्यपि आजकल के दलित चिंतकों का मानना है कि वह दलित विरोधी कहानी है ।[1] इस प्रसंग में मुझे प्रो० मैनेजर पाण्डेय का यह विचार बहुत तर्क संगत प्रतीत होता है कि -`उनकी `कफन` कहानी बहुत लम्बे समय से अनेक तरह के विवादों में घिरी रही है । पिछले कुछ समय से उस कहानी को लेकर एक नया विवाद शुरू हुआ है, जिसमें दलित लेखकों ने उस कहानी में दलित पात्रों को अमानवीय और अस्वाभाविक रूप से प्रस्तुत करने का आरोप लगाया है । अगर प्रेमचन्द को दलितों के बारे में अपनी इच्छानुसार लिखने का अधिकार है, तो दलितों को भी उनकी या किसी अन्य की रचनाओं को स्वीकार अस्वीकार करने का अधिकार है । मेरे विचार में `कफन` में प्रेमचन्द ने घीसू और माधव की मानसिकता के लिए स्वयं घीसू और मानव को नहीं, बल्कि सामन्ती समाज के शोषण और पाखण्ड को जिम्मेवार माना है । प्रेमचन्द का उद्देश्य भी यही है कि जो व्यवस्था घीसू और माधव की मानसिकता पैदा कर सकती है, उसका नाश मनुष्यता के विकास के लिए आवश्यक है ।`[2]

जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है कि प्रेमचन्द एक ऐसे हिन्दुस्तान का स्वप्न देख रहे थे जिसमें किसी भी प्रकार की कोई गुलामी न होगी, जिसमें कोई किसी का जाति-धर्म अथवा लिंग के आधार पर शोषण नहीं कर सकेगा । ऐसा भविष्यद्रष्टा कभी भी मनुष्य विरोधी रचना नहीं लिख सकता । `कफन` में भी घृणा सामन्तवाद के प्रति ही है । प्रेमचन्द का हर संभव प्रयास था कि राष्ट्र उन्नति के पथ पर आगे बढ़े । तभी तो उन्होंने

---

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि - जनमत, 1995 - संपादक - रामजी राम
2. प्रो० मैनेजर पाण्डेय - साक्षात्कार से - राष्ट्रीय सहारा (हस्तक्षेप) 25 जनवरी 1997, पृ० 3 -`दलित चेतना पर विशेष रूप से केंद्रित` ।

8 जनवरी 1934 को लिखा -'पुरोहितों के प्रभुत्व के दिन अब बहुत थोड़े रह गए हैं और समाज और राष्ट्र की भलाई इसी में है कि जाति से यह भेद-भाव, यह एकांगी प्रभुत्व, यह खून चूसने की प्रवृत्ति मिटायी जाय, क्योंकि जैसा हम पहले कह चुके हैं, राष्ट्रीयता की पहली शर्त वर्णव्यवस्था, ऊंच-नीच के भेद और धार्मिक पाखण्ड की जड़ खोदना है ।'[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह जड़ बहुत तेजी से खुद रही है । दलितों में आत्मसम्मान की भावना आ चुकी है । वे अपना हक़ जान चुके हैं और वे सरकार के नहीं, सरकार उनकी मोहताज हो गई है ।आज किसी दलित का शोषण उच्च वर्ण के लिए असंभव व्यापार है । प्रेमचन्द का स्वप्न धीरे-धीरे सार्थक होता दीख रहा है । भारतीय समाज, खास कर हिन्दू समाज का बदरंग चेहरा ठीक होने लगा है । लोगों को प्रेम की महत्ता और जाति पांति की निरर्थकता समझ में आने लगी है ।

---

1. प्रेमचन्द - विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 476 -'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं ?'

तृतीय अध्याय

हिन्दू-मुस्लिम समस्या और प्रेमचन्द

'रहिमन धागा प्रेम का मत तोड़ो चटकाय'

हिन्दू-मुस्लिम समस्या लम्बे समय से भारत की एक महत्वपूर्ण सामाजिक-राजनीतिक समस्या है । प्रेमचन्द ने उस दौर में इस समस्या पर गम्भीरता से विचार किया था, जब देश परतन्त्र था और इस समस्या के महत्वपूर्ण सामाजिक-राजनीतिक आशय तत्कालीन परिस्थितियों में विद्यमान थे । यद्यपि यह समस्या आज भी कम भयावह नहीं है, बल्कि आज तो इसका सर्वाधिक दु:खद पहलू यह है कि हम एक साथ लड़ कर हासिल की हुई आजादी में प्रेम से नहीं रह पा रहे हैं । आज भी हमें अपने-अपने धर्मों के वर्चस्व की चिन्ता मनुष्यता की चिन्ता से ज्यादा महत्वपूर्ण जान पड़ती है । हम अपना-अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए किसी भी हद तक जा सकते हैं, ऐसा हमने विगत वर्षों में संकेतित किया है । यह कौन नहीं जानता कि हिन्दू-मुसलमान न कभी दूध और चीनी थे, न होंगे और न होने चाहिएं । दोनों की अलग-अलग सूरतें बनी रहनी चाहिएं और बनी रहेंगी । जरूरत सिर्फ इस बात की है कि उसके नेताओं में परस्पर सहिष्णुता और उत्सर्ग की भावना हो । आम तौर पर हमारे नेता वह सज्जन होते हैं जो अपने सम्प्रदाय की मुसीबतों और शिकायतों का हमेशा बहुत सरगर्मी से रोना रोया करते हैं । वह अपने सम्प्रदाय के लोगों की दृष्टि में लोकप्रिय बनने के लिए उसकी भावनाओं को उकसाते रहते हैं और समझौते के मुकाबिले में, जो उनके इस विलाप को बन्द कर देगा, झगड़े को कायम रखना ज़्यादा जरूरी समझते हैं ।'[1] प्रेमचन्द का यह कथन बिना किसी आदर्श और लाग-लपेट के एक सामाजिक सच्चाई को सामने रखता है । यह एक बड़ी सच्चाई है कि धर्म अपनी ढेर सारी कमजोरियों और पाखण्ड के बावजूद समाप्त नहीं होता ।

---

1. प्रेमचन्द - विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 355 - 'मनुष्यता का अकाल' ।

सोवियत संघ के बिखरने के बाद उससे जुड़े राष्ट्रों में धार्मिक भावनाएं फिर प्रबल हो उठी हैं । ऐसे में प्रगतिशील दृष्टिकोण के बावजूद यही अनुमान किया जा सकता है कि समय के प्रवाह में धार्मिक भावनाएं दब जाती हैं, समाप्त नहीं होतीं । प्रेमचन्द को इसका ज्ञान था, इसीलिए वे धर्मों को समाप्त करने के बदले इनमें सामंजस्य के बिन्दु ढूंढ़ते हैं ताकि व्यक्ति सम्प्रदायवादी भावनाओं से ऊपर उठ कर राष्ट्र के प्रति भी अपनी जिम्मेदारी का निर्वहन कर सके । किसी भी युग में सिर्फ धर्म के प्रति निष्ठा न तो वक्त का तकाजा था और न ही होना चाहिए । मनुष्य का अस्तित्व किसी भी धर्म से ज्यादा महत्व का होता है, यह बात किसी भी धर्मावलम्बी को अच्छी तरह जान लेना चाहिए ।

प्रेमचन्द के समक्ष यह बात बिल्कुल साफ थी कि आपसी कलह कभी भी उत्थान का कारण नहीं बन सकता । इस कलह का कारण बताते हुए फरवरी 1924 में उन्होंने अपने एक लेख `मनुष्यता का अकाल` में लिखा - `हमको यह मानने मे कोई संकोच नहीं है कि इन दोनों सम्प्रदायों में कशमकश और सन्देह की जड़ें इतिहास में हैं । मुसलमान विजेता थे, हिन्दू विजित । मुसलमानों की तरफ से हिन्दुओं पर अक्सर ज्यादतियां हुईं और यद्यपि हिन्दुओं ने मौका हाथ आ जाने पर उनका जवाब देने में कोई कसर नहीं रखी, लेकिन कुल मिला कर यह कहना ही होगा कि मुसलमान बादशाहों ने सख्त से सख्त जुल्म किए । हम यह भी मानते हैं कि मौजूदा हालात में अज़ान और कुर्बानी के मौकों पर मुसलमानों की तरफ से ज्यादतियां होती हैं और दंगों में भी मुसलमानों ही का पलड़ा भारी रहता है । ज्यादातर मुसलमान अब भी `मेरे दादा सुल्तान थे ` नारे लगाता है और हिन्दुओं पर हावी रहने की कोशिश करता रहता है । ... हम यह कहना चाहते हैं कि हिन्दुओं को इससे कहीं ज्यादा राजनीतिक सहिष्णुता से काम लेने की जरूरत है । इतिहास से उत्तराधिकार में मिली हुई अदावतें मुश्किल से मरती हैं, लेकिन मरती हैं, अमर नहीं होतीं ।`[1] यहां आश्चर्य की कोई बात नहीं कि

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 352-353 - मनुष्यता का अकाल ।

प्रेमचन्द बिना किसी मिर्च-मसाला के तार्किक ढंग से अपनी दो टूक बात रखते हैं । मनुष्य मात्र में विश्वास रखने वाला कोई भी रचनाकार या मनुष्य यही करता है । उसके लिए आदमी की जान सबसे महत्वपूर्ण चीज होती है, न कि धर्म । उन्होंने बहुत खेद के साथ लिखा था -'दुर्भाग्य से वर्तमान समय में धर्म विश्वासों के संस्कार का साधन नहीं, राजनीतिक स्वार्थ सिद्धि का साधन बना लिया गया है । उसकी हैसियत पागलपन की-सी हो गई है, जिसका वसूल है कि सब कुछ अपने लिए और दूसरों के लिए कुछ नहीं । जिस दिन यह आपस की होड़ और दूसरे से आगे बढ़ जाने का ख्याल धर्म से दूर हो जाएगा, उस दिन धर्म-परिवर्तन पर किसी के कान न खड़े होंगे ।'[1] बात बहुत साफ है कि जब धर्म स्वार्थ-सिद्धि का साधन न रहेगा तो इसे अतिरिक्त महत्व मिलना अपने आप बन्द हो जाएगा । प्रेमचन्द अच्छी तरह जानते थे कि पंथगत द्वेष को मिटा कर हम राजनीतिक रूप से शक्तिशाली हो सकते हैं । किसी भी युग में एकता की शक्ति सब से बड़ी शक्ति होती है ।

प्रेमचन्द के समक्ष यह समस्या थी कि अज्ञानवश लोग साम्प्रदायिक भावनाओं के वशीभूत होकर अपनी ही शान्त-सरल ज़िन्दगी में रोज-ब-रोज खलल डाल रहे हैं । ऐसे में धर्म का फायदा हो न हो, मनुष्यों का नुक्सान अवश्य होता है । उन्होंने इसी संदर्भ को व्याख्यायित करते हुए लिखा था - 'तो भी हम यह कह देना उचित समझते हैं कि जब उपासना एक ही परमात्मा की है और केवल उसके बाह्य रूप में भेद है तो हिन्दू लोग क्यों इसकी राह देखें कि जब मुसलमान हमारे धर्म का आदर करेंगे तो हम भी उनके धर्म का आदर करेंगे । अगर धर्म का आदर करना अच्छा है तो हर हालत में अच्छा है । इसके लिए किसी शर्त की जरूरत नहीं । अच्छा काम करने वाले को सब अच्छा कहते हैं ।'[2] इस कथन को पढ़ते हुए महात्मा गांधी के प्रिय भजन की स्मृति हो

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 355 - 'मनुष्यता का अकाल' ।
2. वही, पृ0 352

आती है -

' ईश्वर-अल्लाह तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान ।'

किसी आस्तिक के लिए धर्म के क्षेत्र में यह एक प्रगतिशील दृष्टिकोण है । खासकर हिन्दुस्तान जैसे देश में धर्म और ईश्वर के प्रति ऐसे विचार प्रगतिशील ही कहे जाएंगे क्योंकि प्रगतिशीलता देश और युग के सापेक्ष ही होती है । इसे इसी दृष्टि से देखा भी जाना चाहिए ।

गाय और सूअर की समस्या भी हिन्दू-मुस्लिम समस्या का एक महत्वपूर्ण अंग है । प्रेमचन्द ने बहुत तार्किक ढंग से अपनी बात को रखते हुए लिखा है -' गौ कशी के मामले में हिन्दुओं ने शुरू से अब तक एक अन्यायपूर्ण ढंग अख्तियार किया है । हम को अधिकार है कि जिस जानवर को चाहें पवित्र समझें, लेकिन यह उम्मीद रखना कि दूसरे धर्म को मानने वाले भी उसे वैसा ही पवित्र समझें, खामखाह इस दूसरों से सर टकराना है । गाय सारी दुनिया में खायी जाती है, इसलिए क्या आप सारी दुनिया को गर्दन मार देने के काबिल समझेंगे ? यह किसी खूं-खार मजहब के लिए भी शान की बात नहीं हो सकती कि वह सारी दुनिया से दुश्मनी करना सिखाए, न कि हिन्दू जैसे दार्शनिक, व्यापक और सुसंस्कृत के लिए, जिसका सबसे पवित्र सिद्धान्त हो 'अहिंसा परमो धर्मः' ।... हिन्दुस्तान जैसे कृषि प्रधान देश के लिए गाय का होना एक वरदान है, मगर आर्थिक दृष्टि के अलावा उसका कोई महत्व नहीं है ।'[1] प्रेमचन्द साफ-साफ लिखते हैं कि झगड़ा बढ़ाने से कोई फायदा न होगा । वे हिन्दू धर्म की जो प्रशंसा करते हैं, वह बहुत व्यवहारिक नहीं लगता । ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे प्रेमचन्द हिन्दुओं को धर्म का दार्शनिक पक्ष दिखलाकर उनका विवेक जागृत करने का प्रयास कर रहे थे । हमें याद रखना चाहिए कि इस धर्म के घृणित आचार-व्यवहार पर सर्वाधिक तीखी टिप्पणियां जिस एक लेखक ने की थीं, वे प्रेमचन्द ही हैं । इसलिए धार्मिक दृष्टि में उनकी मंशा पर सन्देह करना उचित नहीं होगा ।

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 354 - 'मनुष्यता का अकाल' ।

गौ मांस के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने एक अन्य निबन्ध में लिखा है --'लेकिन आज कौल-क़सम लिया जाय तो शायद ऐसे बहुत कम राजे-महाराजे या विदेश में शिक्षा प्राप्त करने वाले हिन्दू निकलेंगे जो गौ मांस न खा चुके हों । और उनमें से कितने ही आज हमारे नेता हैं, और हम उन के नामों का जयघोष करते हैं । ... हमें अख्तियार है, हम गऊ की पूजा करें, लेकिन हमें यह अख्तियार नहीं है कि हम दूसरों को गऊ पूजा के लिए बाध्य कर सकें । ... इसलिए यदि हम चाहते हैं कि मुसलमान भी गौ-भक्त हों, तो उसका उपाय यही है कि हमारे और उनके बीच में घनिष्ठता हो, परस्पर ऐक्य हो । तभी वे हमारे धार्मिक मनोभावों का आदर करेंगे। बहरहाल इस जाति द्वेष का कारण गौ हत्या नहीं है ।'[1] उन्होंने अपनी 'मुक्ति धन'[2] कहानी में दिखलाया है कि हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के धर्म को आदर की दृष्टि से देखते हैं । इसी कहानी का एक पात्र रहमान निर्धन होने के बावजूद अपनी गाय कसाई के हाथ न बेच कर घाटा सहते हुए दाऊ दयाल के हाथ बेचता है ताकि गाय की देखभाल हो सके । प्रेमचन्द मानते हैं कि मुसलमानों में भी गाय का मांस वही लोग खाते हैं जो गरीब हैं और गरीब अधिकतर वही लोग हैं जो सवर्ण हिन्दुओं से तंग आकर कभी हिन्दू से मुसलमान हुए थे । इसलिए आज भी वे चिढ़ाने-जलाने की इच्छा से गौ मांस खाते हैं । एक सीमा तक यह तर्क उचित भी प्रतीत होता है । वैसे भी जब दो संस्कृतियां मिलें तो समता के बिन्दु ढूंढ़ना विषमता के बिन्दु ढूंढ़ने से ज्यादा महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि मिलन समान बिन्दुओं के नाते ही सम्भव होगा ।

हिन्दू-मुस्लिम समस्या का सबसे वीभत्स रूप दंगों में देखने को मिलता है । आजादी के पहले से लेकर आज तक यह रुक रुक कर हो ही जाता है ।

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 377 -'हिन्दू-मुस्लिम एकता'
2. मुक्तिधन - मानसरोवर, भाग 3, पृ0 173

यह कहना बेमानी है कि इन दो धर्मों के अनुयायियों के बीच प्रेम की गंगा-यमुना बह रही है। कभी नहीं बही और आगे भी ग़ालिब के सहारे कहें तो 'कोई उम्मीदवर नज़र नहीं आता, कोई सूरत नज़र नहीं आती' । आज भी भागलपुर और मेरठ के साम्प्रदायिक दंगों की स्मृति संवेदनशील मनों पर भारी बोझ की तरह विद्यमान है । कहते हैं कि समय में बहुत शक्ति है, वह घाव देता है और फिर भर भी देता है । लेकिन समय क्या माताओं-पिताओं को उनके पुत्र, पत्नियों को उनके पति, भाइयों-बहनों को उनके भाई, जिसका जो भी बिछड़ गया, उसे वही वापस कर सकता है । संभवत: नहीं । हां, समय उनके बिना भी जीने की आदत डलवा देता है । फिर भी क्या हम भूल जाएं कि ये दंगे हम से हमारी सबसे प्रिय चीज छीन लेते हैं और हम धर्म के नाम पर यह कुकर्म होने देते हैं ? यहां अलग से याद दिलाने की आवश्यकता नहीं कि काश्मीर में उग्रवादियों ने हिन्दू स्त्रियों की देह और उन के मन तथा बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद भड़के दंगों में गुजरात में मुस्लिम स्त्रियों की देह और मन पर जो घृणित हमले हुए, वे धर्म के नाम पर ही हो रहे थे । कितनी बड़ी विडम्बना है कि दंगों में भी शोषण की सर्वाधिक शिकार महिलाएं ही होती हैं । और आक्रमणकारियों का एक मात्र अहं होता है कि हम ने दुश्मन की इज्जत मिट्टी में मिला दी । ध्यान से देखें, यह कितना बड़ा प्रपंच है कि पहले स्त्री को यह इज्जत का प्रतीक बनाइए और फिर लूट लीजिए । यद्यपि आज हमारे समय में यह बहुत सुखद है कि महिलाएं किसी भी तरह लुटने को तैयार नहीं हैं । वे लड़ना सीख रही हैं । धर्म और पुरुषों, दोनों को सचेत हो जाना चाहिए कि स्त्रियां किसी भी शर्त पर अब उन के जुल्म-ओ-सितम को सहने के लिए तैयार नहीं हैं ।

प्रेमचन्द इन दंगों के समाजशास्त्र से पूर्णत: भिज्ञ थे । उन्होंने सन् 1931 के दंगों पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द ने रेखांकित किया था कि इन हत्याकाण्डों से राष्ट्र की जो क्षति होती है, उस पर हमारी दृष्टि क्यों नहीं जाती है ? वे बार-बार सचेत कर रहे थे कि हमारी लड़ाई

अंग्रेजों से है, आपस में नहीं । आज भी प्रेमचन्द की यह चिन्ता सौ प्रतिशत प्रासंगिक है । फर्क इतना है कि आज हमारी लड़ाई अपने राष्ट्र के दुश्मनों से है, जो हमारे विकास के लिए बाधक बने हुए हैं । राष्ट्रीयता की मजबूती के लिए आवश्यक है कि हम आपसी वैमनस्य को भुला कर राष्ट्र के विकास में अपना योगदान दें । प्रेमचन्द ने सन् 1932 में लिखा था -`... हम मुंह से चाहे राष्ट्रीयता की दुहाई दें, दिल से हम सभी सम्प्रदायवादी हैं । और हर एक बात को सम्प्रदाय की आंखों से देखते हैं । क्या यह सत्य नहीं है कि जब कोई साम्प्रदायिक दंगा हो जाता है, तो हम तुरन्त यह जानने के लिए उत्सुक हो जाते हैं कि उस दंगे में कितने हिन्दू हताहत हुए और कितने मुसलमान । अगर हिन्दुओं की संख्या अधिक होती है तो हम कितने उत्तेजित हो जाते हैं । इसके विपरीत अगर मुसलमानों की संख्या अधिक होती है, तो हम आराम की सांस लेते हैं । यह मनोवृत्ति राष्ट्रीयता का गला घोंटने वाली है । हमें इस मनोवृत्ति का मूलोच्छेद करना पड़ेगा, अन्यथा हमारा राष्ट्र मधुर स्वप्न ही रहेगा ।`[1] सच सच कहा जाय तो आजादी के बाद भी `हमारा राष्ट्र` जैसा सम्बोधन मधुर स्वप्न ही है । आजादी की इतनी बड़ी कीमत चुकाने के बाद भी क्या हम सचमुच आजाद हो गए ? क्या इस देश के सबसे निर्बल व्यक्ति को हम पिछले पचास वर्षों में मुख्य धारा में शामिल कर पाए ? सच पूछा जाए तो हम सिर्फ `अपनी सरकारें` बनाते रहे, जो घुमा-फिरा कर वही करती रही हैं जो कोई भी सरकार कर सकती है । इन सरकारों ने आम जनता के लिए ढोंग तो बहुत किया, लेकिन ठोस काम बहुत ही कम । और यह साम्प्रदायिक समस्या क्या शिक्षा के प्रचार-प्रसार के बाद कम हुई ? क्या `अपनी सरकार` जैसे किसी सम्बोधन ने `इस मनुष्य विरोधी प्रवृत्ति` को कुछ भी कम किया ? बड़े दुख का विषय है कि हम इन सारे मोर्चों पर असफल रहे हैं । आजादी के पहले के सुशिक्षितों पर प्रेमचन्द की यह टिप्पणी गौरतलब है --`भारत का एक सुशिक्षित व्यक्ति आज जरूरतों

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2, पृ० 381 -`अब हमें क्या करना है ।`

का ऐसा गुलाम हो गया है कि उसे जीवित रखने के लिए कम से कम पचास मजूरों और किसानों को मरना चाहिए । इसी आडम्बरमय जीवन के निर्वाह के लिए तरह-तरह के ढोंग रचे जाते हैं, धर्म की आड़ ली जाती है, संस्कृति का रोना रोया जाता है, विशेष अधिकार का भूत खड़ा किया जाता है, भाषा और लिपि अनेक कल्पित विभिन्नताओं की दुहाई दी जाती है, केवल इसलिए कि शिक्षितों का खटमली-जीवन आनन्द से व्यतीत हो । वह बंगलों में रहे, मोटरों पर सैर करे, अंग्रेजों से हाथ मिलावें और योरोप की सैर करें । हां, वह समय दूर नहीं है, जब भारत इस नकली आदर्श से विद्रोह करेगा और पृथकता के मकड़ी के जाल को छिन्न-भिन्न कर देगा ।`[1] प्रेमचन्द का यह कथन आजादी के बाद के भी तथाकथित शिक्षितों पर लागू होता है । बस फर्क इतना है कि आजकल के अधिकांश `कैरियरिस्ट युवा` किसी भी मकड़ी जाल को तोड़ने में असमर्थ दीखते हैं । शिक्षा का प्रचार-प्रसार न तो युवाओं के एक बड़े वर्ग में राष्ट्रीयता की भावना पैदा कर सका और न ही साम्प्रदायिक भावनाओं का अन्त । क्या यह एक ठोस सबूत नहीं है कि आजादी की पचासवीं वर्षगांठ कई प्रान्तों में साम्प्रदायिक सरकारों ने मनाई । आखिर हमने इस आजादी से क्या पाया ?

प्रेमचन्द ने अपने लेखों में बार-बार हिन्दुओं को सचेत किया है कि तुम अपनी साम्प्रदायिक भावनाओं का शमन कर लो, इसकी प्रतीक्षा मत करो कि मुसलमान भी ऐसा करेंगे, तभी हम करेंगे । वे जोर देकर कहते हैं कि सहिष्णुता, विश्वास, धैर्य और सेवा के अस्त्र से एक दूसरे को जीतो । फिर देखो, दुनिया कितनी खुशहाल हो जाती है । प्रेमचन्द धर्म और राजनीति को बहुत बारीकी से देखते हैं । वे कांग्रेस में होते हुए भी कांग्रेस की वहां-वहां आलोचना करते हैं, जहां-जहां वह इस भेद को कम कर पाने में असमर्थ रहती है

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 374 -`गोलमेज परिषद में गोल-माल`।

या कोशिशें कम करती है । सन् 1931 में कानपुर और काशी के दंगों के बाद असहयोग के संदर्भ में कांग्रेस की आलोचना करते हुए उन्होंने साफ-साफ लिखा था - 'कांग्रेस ने मुसलमानों को अपना सहायक बनाने की और उतनी कोशिश नहीं की, जितनी करनी चाहिए थी । वह हिन्दू सहायता प्राप्त करके ही सन्तुष्ट रह गयी ।'[1]

प्रेमचन्द कांग्रेस को एक आदर्श राजनीतिक दल की तरह देखते थे बावजूद इसके उन्होंने उसकी कमियों को कभी नहीं छिपाया । वे कांग्रेस के बहाने किसी भी राष्ट्रीय दल के चरित्र को कैसा होना चाहिए, यह रेखांकित करने का प्रयास करते हैं - - -'साम्प्रदायिकता के रूप में जो राजनीतिक पाखण्ड फैलाया जाता है, उससे कांग्रेस वाले कोई सरोकार न रक्खें ।... जहां तक शुद्ध धर्म का सम्बन्ध है, कांग्रेस वाले भी अन्य प्राणियों की भांति स्वाधीन हैं, लेकिन ज्यों ही धर्म राजनीति के क्षेत्र में कदम रक्खे, कांग्रेस वालों को उससे नाता तोड़ लेना चाहिए ।'[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि ज्यों ही धर्म राजनीति के क्षेत्र में कदम रक्खे, किसी भी दल को उससे रिश्ता तोड़ लेना चाहिए । प्रेमचन्द के समक्ष स्वार्थी और साम्प्रदायिक नेताओं का चरित्र कोई रहस्य न था । उन्होंने इसके विषय में सी फीसदी सच लिखा है कि -' ... उन्हें तो लीडरी चाहिए, चाहे कांग्रेस में मिले या हिन्दू सभा में, या मुस्लिम लीग में । हिन्दू सभा की लीडरी ज्यादा मूल्यवान है, क्योंकि रुचि भी तो उधर ही है । जब तक इस दूषित मनोवृत्ति का हम अन्त न कर देंगे, जब तक अपना हिन्दू या मुसलमान होना न भूल जायेंगे, जब तक हम अन्य धर्मावलम्बियों के साथ उतना ही प्रेम न करेंगे, जितना निज धर्म वालों के साथ करते हैं, सारांश यह कि जब तक हम पंथ-जनित संकीर्णता से मुक्त न हो जायेंगे, इस बेड़ी को तोड़ कर फेंक न देंगे,

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 364 - 'नवयुग' ।
2. वही, पृ0 365 - 'मिर्जापुर कान्फ्रेंस में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव' ।

देश का उद्धार होना असंभव है । ... पांचों वक्त नमाज पढ़िए, तीसों रोजे रखिए, देवताओं की जितनी पूजा चाहे कीजिए, जितनी संध्या चाहे कीजिए, हवन की सुगन्ध से देश को सुगन्धित कर दीजिए ; मगर धर्म को राजनीति से गड़बड न कीजिए ।`[1] लगभग 60-65 वर्ष पूर्व लिखे गए एक महान लेखक के इस निवेदन के प्रति हम ने जो कृतघ्नता दिखलाई है, वह मंदिर-मस्जिद समस्या के रूप में इस देश को लील रहा है । प्रेमचन्द इन नेताओं के प्रति किसी भ्रम में न थे । तब भी और आज भी ये वही हैं जो पहले दंगे का माहौल बनाते हैं, दंगा होने देते हैं और फिर आंसू पोंछने पहुंच जाते हैं । इन्हें हर हाल में अपनी रोटी सेंकनी है । यह नहीं देखना है कि ईन्धन के रूप में लकड़ी जल रही है या मनुष्यता । सभ्यता की खोल में ये बर्बरता के अवशेष हैं । प्रेमचन्द ने अपने समय के नेताओं के विषय में सन्देह प्रकट किया था कि ऐसे नेता बहुत कम हैं, जो सचमुच राष्ट्र की सेवा की भावना से राजनीति करते हैं । आजकल तो ढूंढे से भी कोई ऐसा नेता मिल जाए जो सेवा की भावना से राजनीति करता हो, तो समझिए कि दुश्मन को परास्त करने के लिए आपने सबसे बड़ा हथियार तैयार कर लिया ।

प्रेमचन्द ने भारतीय समाज का गहरा व्यवहारिक अध्ययन किया था । वे जानते थे कि कुछ लोग निहित स्वार्थों के वशीभूत होकर आपसी चाल चल कर साम्प्रदायिक दंगे भड़का देते हैं । ऐसा अक्सर होता है कि साम्प्रदायवाद के सहारे अपनी रोटी सेंकने वाले मुल्ला और पंडित किसी मुसलमान से मस्जिद में सूअर का मांस और किसी हिन्दू से मंदिर में गाय का मांस फिंकवा कर दंगों का बिगुल बजा देते हैं । फिर तो मंदिरों-मठों से `हिन्दुत्व खतरे में है ` अथवा `हिन्दी-हिन्दू-हिन्दोस्तान` जैसे नारे और मस्जिदों से `इस्लाम खतरे में है ` के स्वर बहुत तेजी से उभरते हैं और पूरी मनुष्यता पर कालिमा की तरह छा जाते हैं । इसके उदाहरण भारतीय समाज

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 366 - `मिर्जापुर कान्फ्रेंस में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव` ।

ने सन् 1990 से अब तक कई बार प्रस्तुत किये हैं । प्रेमचन्द के समय में भी दंगा भड़काने का यह एक प्रमुख तरीका था । अपनी एक टिप्पणी `स्वार्थान्धता की पराकाष्ठा` में उन्होंने इस नीचता को रेखांकित किया है ।[1] मौलवियों और पंडितों के विषय में उनकी जो धारणा थी, वह आज भी प्रासंगिक है ।उन्होंने लिखा है -`मौलवी और पंडित साम्प्रदायिक वातावरण में रहने के कारण कुछ तंग ख्याल हो जाते हैं और धर्म के बाह्य लक्षणों और गौण बातों को तात्विक प्रश्नों से बढ़ा देते हैं । एक कट्टर पंडित की दृष्टि में ठाकुर जी को प्रात:काल जल चढ़ाना या गंगा स्नान करना किसी बीमार को अस्पतालपहुचा देने से कहीं अधिक महत्व की बात है । इसी तरह मौलवियों की निगाह में भी रोज़ा और नमाज़ आदमियों की खिदमत से कहीं बढ़कर है । इसका नतीजा यह है कि आज सम्प्रदायों में आपस में घोर संग्राम छिड़ा हुआ है जो अक्सर दंगों के रूप में प्रकट हो जाता है ।`[2] हमारे आज के भारतीय समाज में मंदिर-मस्जिद के झगड़े पंडितों-मुल्लाओं की ऐसी ही कूपमंडूकता और राजनीतिज्ञों की स्वार्थांधता के कारण ही हो रहे हैं । वरना रोजी-रोटी के चक्कर में पिस रहे किसी भी आम भारतीय नागरिक को ऐसी मूर्खताओं के विषय में सोचने-विचारने की फुर्सत ही कहां है ।

साम्प्रदायिकता के विषय में प्रेमचन्द ने जो विचार व्यक्त किए हैं, वे एक रचनाकार के भावुक उद्गार भर नहीं हैं, बल्कि समय से सचेत हुए एक मनुष्यधर्मी चिन्तक की वैज्ञानिक सोच का नतीजा हैं । साम्प्रदायिकता पर विचार करते हुए अपने एक लेख -`समझौता या हार` में उन्होंने लिखा है - `... क्या साम्प्रदायिकता उसी को कहते हैं जो धर्म और आचार पर आधारित हो । वह भी तो साम्प्रदायिकता है जो राजनीतिक सिद्धान्तों

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 370 -`स्वार्थांधता की पराकाष्ठा` ।
2. वही, पृ0 418 -`कुरान में धार्मिक ऐक्य का तत्व` ।

पर आधारित होती है । अगर हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे से लड़ते हैं तो क्या सोशलिस्ट और डेमोक्रेट एक दूसरे की पूजा करते हैं ? उनकी आपसी लड़ाइयां भी उतनी ही भयंकर, उतनी ही रक्तमय होती हैं । बल्कि उस से कुछ ज्यादा । यह विभिन्नता तो किसी न किसी रूप में उस समय तक रहेगी जब तक एक नए युग का उदय न होगा, जब सब एक दूसरे को भाई समझेंगे, स्वार्थ और भेद का अन्त हो जाएगा । वह समय निकट भविष्य में आता नजर नहीं आता ।'[1] यह एक कालजयी रचनाकार का अनुमान था । काश ! कि वह समय आ गया होता किन्तु आजादी के इतने समय बाद भी वह समय आता नजर नहीं आता । प्रेमचन्द को पूरा अनुमान था कि -'वर्तमान साम्प्रदायिकता के बाद उस साम्प्रदायिकता का युग आने वाला है, जो राजनीति प्रधान होगी, श्रम और पूजा का भीषण संग्राम छिड़ेगा । इस साम्प्रदायिकता में तो कुछ सहिष्णुता है । वह साम्प्रदायिकता तो सामूहिक स्वार्थ की उपज होगी और यह मानना पड़ेगा कि स्वार्थ धर्म से कम घातक नहीं है ।'[2] आज की साम्प्रदायिकता प्रेमचन्द की अनुमानित साम्प्रदायिकता ही है । आज सत्ता की नोच-खसोट में इन्सानियत मूल्यहीन हो चुकी है । प्रेमचन्द इस जहर के प्रभाव से पूरी तरह वाकिफ़ थे । अपने समय में उन्होंने हर संभव कोशिश की कि साम्प्रदायिकता की दीवाल पर चढ़ कर ऊंचे उठने वालों को रोका जा सके । उनका असली चेहरा जनता के समक्ष रखा जा सके । अपने इसी प्रयास को फलीभूत करने के लिए उन्होंने इस्लाम धर्म के विषय में फैली भ्रामक धारणाओं का खण्डन करने वाले लेख लिखे । भारत में इस्लाम के फैलने के सामाजिक कारणों को उद्घाटित करते हुए उन्होंने लिखा था -'यह बिलकुल ग़लत है कि इस्लाम तलवार के बल से फैला । तलवार के बल से कोई धर्म नहीं फैलता, और कुछ दिनों के लिए फैल भी जाय, तो चिरजीवी नहीं हो सकता । भारत में इस्लाम के फैलने का कारण, ऊंची जाति वाले हिन्दुओं की नीची जातियों पर अत्याचार

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 403
2. वही, पृ0 404

था । बौद्धों ने ऊंच-नीच का, भेद मिटा कर नीचों के उद्धार का प्रयास किया, और इसमें उन्हें अच्छी सफलता मिली, लेकिन जब हिन्दू धर्म ने जोर पकड़ा, तो नीची जातियों पर फिर वही पुराना अत्याचार शुरू हुआ, बल्कि और ज़ोरों के साथ । ऊंचों ने नीचों से उनके विद्रोह का बदला लेने की ठानी । नीचों ने बौद्ध काल में अपना आत्म-सम्मान पा लिया था । वह उच्चवर्गीय हिन्दुओं से बराबरी का दावा करने लगे थे । उस बराबरी का मज़ा चखने के बाद, अब उन्हें अपने को नीच समझना दुस्सह हो गया। यह खींच-तान हो ही रही थी कि इसलाम ने नए सिद्धान्तों के साथ पदार्पण किया । वहां ऊंच-नीच का भेद न था । छोटे-बड़े, ऊंच-नीच की कैद न थी । इसलाम की दीक्षा लेते ही मनुष्य की सारी अशुद्धियां, सारी अयोग्यताएं, मानो धुल जाती थीं । - - - यहां तक कि उच्चवर्गीय हिन्दुओं की दृष्टि में भी उसका सम्मान बढ़ जाता था । हिन्दू अछूत से हाथ नहीं मिला सकता, पर मुसलमानों के साथ मिलने-जुलने में उसे कोई बाधा नहीं होती । - - - इसलिए नीचों ने इस धर्म का बड़े हर्ष से स्वागत किया, और गांव के गांव मुसलमान हो गए । - - यह है इसलाम के फैलने का इतिहास, और आज भी वर्गीय हिन्दू अपने पुराने संस्कारों को नहीं बदल सके हैं ।[1]

`मंत्र` शीर्षक कहानी में एक बूढ़ा अछूत कहता है -"हिन्दू समाज में रहकर हमारे माथे का कलंक न मिटेगा । हम कितने ही विद्वान, कितने ही आचारवान हो जाएं, आप हमें यों ही नीच समझते रहेंगे । हिन्दुओं की आत्मा मर गई है, और उसका स्थान अहंकार ने ले लिया है । हम अब उस देवता की शरण जा रहे हैं, जिन के मानने वाले हम से गले मिलने को आज भी तैयार हैं । वे यह नहीं कहते कि तुम अपने संस्कार बदल कर आओ । हम अच्छे हैं, या बुरे, उसी दशा में हमें अपने पास बुला रहे हैं ।"[2]

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 375 - `हिन्दू-मुस्लिम एकता` ।
2. मंत्र - इक्यावन श्रेष्ठ कहानियां - प्रेमचंद, पृ0 450

इस प्रकार अपनी कहानियों में भी प्रेमचन्द ने इस्लाम के विस्तार का सही कारण रेखांकित किया । अपने एक अन्य लेख `हज़रत मुहम्मद की पुण्य-स्मृति` में उन्होंने मुहम्मद साहब के विषय में फैलाई गई ऊल जुलूल बातों का खण्डन करते हुए उन्हें महान् बताया । उन्होंने लिखा - `यह भी ध्यान रखने की बात है कि हजरत मुहम्मद ने कहीं भी नए धर्म के प्रवर्तन का दावा नहीं किया । उन्होंने बार-बार कहा है कि मैं प्राचीन नबियों के धर्म को ही पुनर्जीवित करने आया हूं । उन्होंने बार-बार कहा है कि हरेक धर्म का सम्मान करो, क्योंकि सब धर्मों की तह में केवल एक सच्चाई है । किसी धर्म की उन्होंने निन्दा नहीं की । जब हजरत एक राज्य के अधिकारी हो गए और वह तलवार के जोर से जनता को मुसलमान बना सकते थे, तब भी उन्होंने हरेक धर्म को अपने मतानुसार उपासना करने की स्वाधीनता दे दी थी । यहां तक कि मूर्ति-पूजकों पर भी कोई बन्धन न था और हरेक धर्म के पवित्र स्थानों की रक्षा करना मुसलिम सरकार अपना कर्त्तव्य समझती थी ।`[1] प्रेमचन्द ने अपने नाटक `कर्बला` में इतिहास के सहारे यह अभिव्यक्त किया है कि `कर्बला`[2] के युद्ध में हुसैन के साथ आर्यों ने मिल कर लड़ाई लड़ी थी । यह इस्लाम के उदय काल में आर्यों और इस्लाम मतानुयायियों के बीच का प्रेम ही था । उन्होंने `कुरान` पर किए आक्षेपों को निराधार बताते हुए लिखा है -`कहा जाता है, उस में गैर मुसलिमों को क़त्ल करने की तालीम दी गयी है । इसके प्रमाण में पेश की जाती हैं । मगर जब कोई विद्वान, शुद्ध भाव से साम्प्रदायिकता से ऊंचा उठ कर उन्हीं आयतों का विवेचन करता है तो हमें मालूम होता है कि हम कितनी गलती पर थे ।`[3] उन्होंने बाबू राजेन्द्र प्रसाद की निगरानी

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 413 -`हजरत मुहम्मद की पुण्य-स्मृति` ।
2. कर्बला के आधार पर ।
3. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 418 -`कुरान में धार्मिक ऐक्य का तत्व`।

में हुए `कुरान` के एक अंश के अनुवाद को उद्धरित करते हुए इसे धार्मिक ऐक्य का महान ग्रन्थ बताया है । वे उस अनुवाद के एक परिच्छेद का अंश प्रस्तुत करते हैं -`यह महान तत्व (धार्मिक ऐक्य) कुरान के संदेश की सबसे पहली बुनियाद है । कुरान जो कुछ बतलाना और सिखलाना चाहता है, सब इसी पर अवलम्बित हैं । अगर इस तत्व से नज़र फेर ली जाय तो कुरान के संदेश का सारा ढांचा छिन्न-भिन्न हो जाता है, परन्तु संसार के इतिहास की आश्चर्यजनक प्रगति में यह भी एक विचित्र घटना है कि कुरान ने तत्व पर जितना अधिक जोर दिया, उतनी ही संसार की दृष्टि इससे फिरी रही । यहां तक कि आज कुरान की कोई भी बात संसार की दृष्टि से इस दर्जे छिपी हुई नहीं है जितना यह महान तत्व । यदि कोई व्यक्ति हर प्रकार के बाहरी प्रभाव से अलग होकर कुरान को पढ़े और उसके पृष्ठों में स्थान-स्थान पर इस महान तत्व के अकाट्य और स्पष्ट ऐलान देखे और फिर संसार की ओर दृष्टि डाले, जिसने यह समझ रक्खा है कि कुरान भी अन्य धार्मिक सम्प्रदायों की तरह एक सम्प्रदाय मात्र है, तो वह हैरान हो कर पुकार उठेगा कि या तो मेरी निगाह मुझको धोखा दे रही है या संसार सदा बिना आखें खोले ही अपने फैसले दे दिया करता है ।`[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि इतने तार्किक और मजबूत ढंग से एकता के सूत्र ढूंढने वाला लेखक किसी भी हाल में प्रगतिशील ही कहा जाएगा । वैसे भी प्रेमचन्द की प्रगतिशीलता पर सन्देह नहीं किया जा सकता । इतिहास गवाह है कि उन्होंने अपनी प्रगतिशीलता का मूल्य भी चुकाया था । यह उनकी प्रखर सामाजिक चिन्ता ही थी कि उन्होंने आचार्य चतुरसेन की कृति `इस्लाम का विष-वृक्ष` पर अत्यन्त तीखी टिप्पणी की । ध्यातव्य है कि 1932-33 में आ. चतुरसेन की यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी, जिसने पढ़े-लिखे लोगों में भी भ्रम फैलाने का काम किया था । प्रेमचन्द ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा था -`दोष सभी धर्मों में निकाले जा सकते हैं । क्या हिन्दू धर्म

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 419 - `कुरान में धार्मिक ऐक्य का तत्व` ।

दोषों से खाली है ? अपने अपने समय में प्रभुता पाकर अत्याचार भी सभी जातियों ने किए हैं, लेकिन उन गयी बीती बातों को कोने की तरह पालना और उनका प्रचार करके जनता में द्वेष फैलाना, राष्ट्र को सर्वनाश की ओर ले जाना है ।'[1] आचार्य चतुरसेन की इस पुस्तक के पृष्ठ तैंतालीस पर लिखी बातों को प्रेमचन्द ने उद्धृत करते हुए लिखा था -'हम नहीं समझते कि इस तरह की लचर, बेबुनियाद, धोखे में डालने वाली बातों के प्रचार का इसके सिवा और क्या उद्देश्य है कि हिन्दुओं में इस्लाम और मुसलमानों के प्रति घृणा और द्वेष पैदा किया । ऐसी मनोवृत्ति वालों से ईश्वर इस देश की रक्षा करे ।'[2] तथ्य के लिए आचार्य चतुरसेन की लिखी बातें भी गौर तलब हैं । उन्होंने लिखा है --

'(1) खुदा आदमी को बहकाता है ।

(2) खुदा सबसे बड़ा कपटी है ।

(3) खुदा ने प्रत्येक शहर में पापियों केसरदार छोड़ रखे हैं ताकि वे लोगों को बहकाते और धोखा देते रहें ।

(4) खुदा घात में लगा रहता है ।

(5) विहिश्त में शराब पीने को, मांस खाने को, तथा सत्तर हूरें और लौंडे मौज करने को मिलेंगे ।'[3]

आश्चर्य होता है कि आचार्य चतुरसेन शास्त्री जैसे महत्वपूर्ण लेखक ऐसी प्रतिक्रियावादी विचारधारा से ग्रस्त थे और उससे भी अधिक आश्चर्य इस बात से होता है कि आजादी की लड़ाई के उस दौर में भी प्रेमचन्द के अतिरिक्त हिन्दी के किसी दूसरे लेखक के पास इस घृणित व्यवहार के प्रति कोई व्यवस्थित और समतामूलक दृष्टिकोण न था । प्रेमचन्द ने स्वयं तो लिखा, साथ ही अपने समय के प्रखर युवा लेखक (बाद के बड़े कथाकार) श्री जैनेन्द्र को

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 414 -'इस्लाम का विष-वृक्ष'
2. वही, पृ0 415
3. स्रोत - वही, पृ0 414

17 जुलाई 1933 को इस संदर्भ में एक भी पत्र लिखा कि वे चतुरसेन की पुस्तक `इस्लाम का विष वृक्ष` पर आलोचना लिख कर उनके पास भेज दें ।`[1] ये घटनाएं और उनका लेखन इस बात के स्पष्ट गवाह हैं कि वे भारतीय समाज में समता के दर्शन को जन-जन तक पहुंचाने के लिए कितने प्रयत्नशील थे । उनके आगे-पीछे देखने पर एक कबीर हैं, जिन्होंने अत्यन्त प्रखर ढंग से जाति-पांति और हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर लिखा है । यद्यपि स्त्री के प्रश्न पर कबीर भी मध्यकालीन सोच से उबर न सके थे ।

प्रेमचन्द के समक्ष एकता और समता का सामाजिक आदर्श था । वे इसी आदर्श को भारतीय समाज में फलीभूत होते देखना चाहते थे । यही कारण है कि एक ओर वे हिन्दू समाज की कमजोरियों को रेखांकित करते हैं, तो दूसरी ओर उसका आदर्श भी रखते हैं । उन्होंने लिखा है -`क्या हिन्दू आदर्श यही है कि अन्यायी हिन्दू राजाओं की प्रशंसा की जाय और उन्हें अपनी मुस्लिम प्रजा को कुचलने में सहायता दी जाय ?`[2] हिन्दू धर्म के आदर्श को लेकर उठाया गया प्रश्न आज भी प्रासंगिक है ।`मन्दिर-मस्जिद` जैसे अयोध्याकाण्डों में हमारी पक्षधरता क्या होनी चाहिए, यह प्रश्न उस ओर संकेत करता है ।

हिन्दू-मुस्लिम समस्या का एक अंग भाषा-विवाद भी है - हिन्दी-उर्दू विवाद । यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि यह विवाद सन् 1800 में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के साथ जन्मा और परवान चढ़ा । उसके पूर्व इन दोनों भाषाओं में कोई साम्प्रदायिक विवाद न था अन्यथा अब मीर और ग़ालिब जैसे महाकवि अपने को हिन्दी और रेख़े का कवि नहीं कहते । यहां अलग से इंगित करने की आवश्यकता नहीं है कि अंग्रेज़ों ने अपने `बांटो और राज करो` के सिद्धान्त के तहत ही हिन्दी को हिन्दुओं और उर्दू को

---

1. डा. इन्द्रमोहन कुमार सिन्हा - प्रेमचन्द युगीन भारतीय समाज, पृ0 301
2. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 421 -`हिन्दू सभा की नाराजगी` ।

मुसलमानों से जोड़कर देखा तथा इसे प्रचारित करके हिन्दू-मुस्लिम समस्या को और गम्भीर बना दिया । अंग्रेजों की भाषा-नीति का ही परिणाम था कि डा. इकबाल और जिन्ना जैसे लोगों ने उर्दू बोलने वालों का अलग देश बनाने की पेशकश की । डा. इकबाल तो एक मुस्लिम राष्ट्र चाहते थे,लेकिन उर्दू के आधार पर देश की मांग जिन्ना और उनके सहयोगियों ने रखी । और लिया भी । आजादी के बाद के हिन्दू-उर्दू विवाद की जड़ में उर्दू के आधार पर बना पाकिस्तान है । उर्दू के आधार पर बने एक अलग मुस्लिम राष्ट्र ने आम हिन्दुओं में यह बात गहरे तक भर दी कि उर्दू मुसलमानों की भाषा है । आज का पढ़ा-लिखा तबका यह जानता है कि भाषा किसी धर्म या जाति की नहीं होती । अगर उर्दू मुसलमानों की भाषा होती तो पाकिस्तान से लड़ कर बंगाली मुसलमान अलग न होते । अरब-ईरान-ईराक-अफगानिस्तान आदि देशों के मुस्लिम भी उर्दू ही बोलते या सारी दुनिया के हिन्दू हिंदी बोलते । पूरी दुनिया की बात छोड़ें, हिन्दुस्तान में ही दक्षिण के हिन्दू तमिल-तेलुगु , मलयालम आदि बोलते हैं । कोई भी बच्चा पैदा होते ही कोई भाषा नहीं बोलने लगता है । उसे जिस भी भाषा की शिक्षा-दीक्षा दी जाती है, वह उसी में पारंगत हो जाता है । कौन नहीं जानता कि मध्य-काल में फारसी में जिस एक जाति ने सिद्धहस्तता प्राप्त की थी, वह कायस्थ हिन्दू थे । फिर भी आज यह एक सामाजिक सच्चाई है कि उर्दू की पहचान एक धर्म विशेष की भाषा के रूप में हो गई है जो कि कतई सुखद नहीं है । मुंशी प्रेमचन्द की जो ऊंचाई हिन्दी में है, वही उर्दू में भी है । उन्होंने हिन्दी कथा साहित्य को ही नयी ज़मीन और नया आकाश नहीं दिया,वरन् उर्दू को भी दिया । वे यह मानते थे कि उनकी उम्र उर्दू की सेवकाई करते गुजरी है और उर्दू उन्हें प्राणों की तरह प्यारी है । वे भाषा के प्रति तंग दृष्टि रखने वालों की जमकर ख़बर लेते थे । `नियाज फतेहपुरी के एक लेख का जवाब देते हुए उन्होंने लिखा था -`आपके ख्याल में कोई हिन्दू उर्दू लिख ही नहीं सकता, चाहे वा सारी उम्र इसकी साधना करता रहे, और मुसलमान जन्म से ही उर्दू लिखना जानता है, यानी उर्दू लिखने की योग्यता वह मां के

पेट से लेकर आता है । यह दावा इतना ग़लत, पोच, लचर और बेवकूफ़ी से भरा हुआ है कि इसके जवाब की जरूरत नहीं । मैं तो इतना ही कह सकता हूं कि जिस ज़बान के साहित्यकार इतने तंग-नज़र, अपने घमण्ड में फूले हुए हों, उसका खुदा ही मालिक है ।'[1] इस भाषा पर ग़ौर करें तो प्रेमचन्द की एकता की पवित्र भावना और ज्यादा पुष्ट होती है । उन्होंने अपने इसी लेख में साफ-साफ लिखा -'उर्दू न मुसलमानों की बपौती है न हिन्दुओं की । उसके लिखने और पढ़ने का हक़ दोनों को हासिल है । हिन्दुओं का उस पर हक पहला है क्योंकि वह हिन्दी की एक शाखा है, हिन्दी पानी और मिट्टी से उसकी रचना हुई है और सिर्फ कुछ थोड़े से अरबी और फारसी शब्दों को दाखिल कर देने से उस की असलियत नहीं बदल सकती, उसी तरह जैसे पहनावा बदलने से राष्ट्रीयता या जाति नहीं बदल सकती ।'[2] अपने इस कथन में प्रेमचन्द एक ओर जहां भाषा के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि अपनाते हैं, वहीं जाने-अनजाने इस भावना के शिकार होते दिखते हैं कि हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है । यद्यपि उन के सम्पूर्ण भाषा चिंतन का सार यही है कि भाषा बोलने वाले की होती है, किसी धर्म या जाति की नहीं । उन्होंने नियाज़ फतेहपुरी पर गुस्सा उतारते हुए स्पष्ट किया कि भाषा के प्रति साम्प्रदायिक दृष्टि ही हमें श्रेष्ठ साहित्य का निर्णय करने नहीं देती । उन्होंने नियाज़ जैसे लोगों को इंगित करते हुए लिखा -'यहां तो हिन्दू लेखकों के साथ यह कद्रदानी दिखाई जाती है, उधर हिन्दुओं को हिन्दी के मुसलमान कवियों से कितना सच्चा प्रेम है । रहीम और जायसी आदि की कविता के नए-नए संस्करण प्रकाशित होते रहते हैं । उन्हें इतने ही शौक़ से पढ़ा जाता है, जैसे सूर या तुलसी को। पाठ्यक्रम में उसे हिन्दू कवियों के साथ जगह दी जाती है, हिन्दू या मुसलमान होने का किसी को ख्याल ही नहीं आता । उर्दू के किसी हिंदू शायर का कलाम किसी मुसलमान ने संग्रह किया हो, इसकी मुझे कोई

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 360 -'उर्दू में फिरऔनियत' ।
2. वही, पृ0 361

मिसाल नहीं मिलती । हाल ही में हजरत असगर ने `यादगारे नसीम` का संकलन किया है जिसका उन्हें भुगतान करना पड़ रहा है । इस साहित्यिक संकीर्णता और द्वेष की भी कोई सीमा है ।`[1] यह कथन इस बात को बहुत हद तक साफ कर देता है कि प्रेमचन्द के समय तक आते-आते यह विवाद बहुत बढ़ गया था, नहीं तो जीवन भर उर्दू की सेवा करने वाले एक महान लेखक को एक सीमा तक प्रतिक्रियावादी होकर जवाब नहीं देना पड़ता । भाषा और धार्मिक कूपमंडूकता की मित्रता पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा था -`अभी बहुत दिन नहीं गुजरे कि हिन्दू बड़े शौक से उर्दू-फारसी पढ़ते थे । बड़े-बड़े संस्कृत के विद्वान ब्राह्मण भी अपने लड़कों को फारसी-उर्दू पढ़ाया करते थे, पर गत पच्चीस तीस वर्षों से परिस्थिति बहुत कुछ बदल गयी है । अब हिन्दू उर्दू-फारसी का नाम नहीं लेता और मुसलमानों में तो रहीम और रसखान अब कल्पनातीत हो गए । ज्यों-ज्यों यह पृथकता बढ़ती जाती है, हमारी कूपमंडूकता भी बढ़ती जाती है ।`[2] प्रेमचन्द के समय में यह विवाद जितना गहरा था, आज उस से तीखा ही हुआ है । हम जितने शिक्षित हुए हैं, हमारी धार्मिक कूप-मंडूकता उतनी ही बढ़ी है, अन्यथा जिस देश में रोजगार न हो, उस देश में मुख्य मुद्दा मंदिर-मस्जिद बन जाए, यह क्या है ! फिर भी समय से सचेत हुए लोगों का फर्ज होता है कि वे राष्ट्रीय हित के मुद्दों को बहस में लाएं । प्रेमचन्द अपने समय में यह काम बखूबी कर रहे थे । वे अच्छी तरह जानते थे कि भारत में राष्ट्रीय एकता के लिए हिन्दी-उर्दू विवाद का जड़ से समाप्त होना ही श्रेयस्कर है ।

प्रेमचन्द के समक्ष हिन्दू-मुस्लिम एकता को लेकर एक बात बिल्कुल साफ थी कि यह एकता तथाकथित राष्ट्रवादी नेताओं अर्थात् स्वभावत:

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 362 -`उर्दू में फिरऔनियत` ।
2. वही, पृ0 366 - `मिर्जापुर कान्फ्रेंस में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव` ।

अक्षरवादी रहनुमाओं के द्वारा संभव नहीं हो सकती । उनके समय में भी आज की ही तरह अधिकांश नेता सिर्फ अपनी रोटी सेंकने के लिए एकता की बातें कर रहे थे । प्रेमचन्द जानते थे कि उनके हृदयों में मैल बैठी हुई है और ये चाहते हैं कि हिन्दू-मुस्लिम के बीच धार्मिक-सामाजिक-राजनीतिक झगड़ा बर्करार रहे ताकि उनकी सत्ता बनी रहे । लेडी अब्दुल कादिर के भाषण पर लिखते हुए उन्होंने रेखांकित किया था कि आम हिन्दू-मुसलमान को इन सियासी झगड़ों से कुछ खास लेना-देना नहीं होता है ।[1] ये नेता ही उनकी भावनाओं को उकसाकर उनसे ऐसे काम करा लेते हैं, जो न सिर्फ धर्म-विरोधी होता है, बल्कि मनुष्य विरोधी भी होता है । प्रेमचन्द ने एकता के सम्बन्ध में अपनी धारणा को पुष्ट करने के लिए अपने समय के प्रख्यात इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों के विचारों को भी उद्धृत किया है । ऐसा ही एक उद्धरण है सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० मुहम्मद हबीब के एक लेख `मध्यकाल में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध` से । प्रो० मुहम्मद हबीब ने लिखा है -`कहा जाता है कि हिन्दुओं को घोड़े पर सवार होने, तीर चलाने और जुलूस निकालने तथा स्नान और पूजा-पाठ का निषेध था, पर यह किंवदंतियां मौलिक प्रमाणों के गलत मुताला (अध्ययन) से पैदा हुई हैं । उस ज़माने का हिन्दू मज़हब संगठित और शक्तिशाली था । उसके साथ मुसलमान बादशाह इसलिए सादारी बरतते थे कि इसके सिवा दूसरी राह न थी ।... उनके लिए साम्प्रदायिक संघर्ष का फल तबाही के सिवा और कुछ न होता। यह विचित्र बात है कि मध्यकालीन इतिहास के राजनैतिक या ऐतिहासिक साहित्य में हिन्दू-मुस्लिम द्वन्द्व का कोई छोटे से छोटा प्रमाण नहीं मिलता। लेकिन इसका कारण यह नहीं है कि हिन्दू इसके लिए तैयार न थे । नहीं ! वह तो अपनी रण-प्रियता के लिए बदनाम थे । लेकिन उस काल की किसी लड़ाई में भी हम सेनाओं को साम्प्रदायिक आधार पर लड़ते नहीं पाते । अफगानी सिपाहियों का एक दस्ता तराइन की लड़ाई में राय पिथौरा के नीचे लड़ा था । मुसलमानों की एक पैदल सेना ने पानीपत की लड़ाई में

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ० 396 -`कराची में महिला सम्मेलन`।

मराठों की मदद की थी । असली हिन्दू-मुस्लिम लड़ाई तो वास्तव में कभी हुई ही नहीं ।'[1] ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह बात बिलकुल ठीक है किन्तु प्रेमचन्द के समय तक आते-आते सियासी कारणों से ही दोनों समुदाय के प्रेम सम्बन्धों में पर्याप्त फर्क आ चुका था । प्रेमचन्द जैसे मनुष्यधर्मी लोग जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों से एकता की मिसालें दे-दे कर यही चाहते थे कि लोग यह जान सकें कि मनुष्य दुनिया की किसी भी चीज से ज्यादा महत्व-पूर्ण है, और साथ ही यह भी कि राष्ट्र कौम और जाति से ऊपर होता है । उन्होंने एकता के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हुए लिखा था -'ईश्वर से हमारी यही कामना है कि हिन्दू-मुस्लिम समझौता सफल हो और भारत एक राष्ट्र और एकात्मा होकर अपने अभ्युदय के पथ पर अग्रसर हो ।'[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द घनघोर राष्ट्रवादी थे किन्तु आज के तथा-कथित राष्ट्रवादियों के राष्ट्रवाद और उनके राष्ट्रवाद में कोई तुलनात्मक अध्ययन ही संभव नहीं लगता । प्रेमचन्द के लिए 'राष्ट्रवाद' का आशय बहुत व्यापक था । इस व्यापकता में दलितों की मुक्ति, स्त्री की स्वाधीनता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, अंग्रेजों से स्वतन्त्रता आदि सब थे जबकि आज के तथा-कथित राष्ट्रवादियों का राष्ट्रवाद मंदिरों-मस्जिदों-हिन्दुओं-मुसलमानों और संसद के गलियारे तक सीमित है । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह राष्ट्र-वाद नहीं फासीवाद का ही एक रूप है ।

किसी भी विवेकशील और संवेदनशील मनुष्य की तरह प्रेमचन्द के लिए यह बड़े दुख का विषय था कि कुछ लोग इन दोनों समुदायों में प्रेम के सूत्र तलाशने की जगह घृणा के सूत्र ही ढूंढते रहते हैं । उन्हें इनकी एकता से अधिक अपनी सत्ता की चिन्ता सताती रहती है ।ऐसे लोगों को फटकारते हुए प्रेमचन्द ने लिखा था -'दो भाई यदि आपस में लड़ने-भिड़ने और मुकदमे-

---

1. प्रो० मुहम्मद हबीब - स्रोत - प्रेमचन्द - विविध प्रसंग - भाग 2, पृ० 378
2. वही, पृ० 389

बाजी करने के बाद चेत जाएं और आपस में समझौता करने का इरादा कर लें, तो क्या गड़े मुर्दे उखाड़ कर उनमें मेल न होने देना किसी ऊंची मनोवृत्ति का पता देता है ? समझौता करते समय हमें पिछली बातों को भुला देना पड़ता है, गुस्से में हमारे मुंह से क्या-क्या अनाप-शनाप बातें निकल गयीं, हमने किस तरह एक दूसरे को नीचा दिखाने की चेष्टा की, यह सारी कटुताएं विस्मृत कर देनी पड़ती हैं । हम सदिच्छा के साथ, ईश्वर पर भरोसा करके प्रेम का हाथ फैलाते हैं । समझौते की यही एक सूरत है। यदि हम अविश्वास करते रहेंगे, तो दूसरा पक्ष भी हमारे ऊपर अविश्वास करता रहेगा । ऐसी दशा में मेल कहां से आएगा ।'[1] यही प्रेमचन्द की पीड़ा थी । यही हमारे समय के प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति की पीड़ा है ।

प्रेमचन्द अच्छी तरह जानते थे कि राष्ट्र की समस्याएं किसी एक कौम या जाति की समस्याएं नहीं हैं । किसी भी युग में राष्ट्र की समस्या उस राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति की समस्या होती है । उन्होंने बड़ी तार्किकता के साथ यथार्थ बोध कराते हुए लिखा था -'वास्तव में जो कुछ मतभेद हैं, वह केवल शिक्षित समुदाय के अधिकार और स्वार्थ का है । राष्ट्र के सामने जो समस्या है, उसका सम्बन्ध हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सभी से है । बेकारी से सभी दुखी हैं । दरिद्रता सभी का गला दबाए हुए है । नित नई-नई बीमारियां पैदा होती जा रही हैं । उसका वार सभी सम्प्रदायों पर समान रूप से होता है । कर्ज की इल्लत में सभी गिरफ्तार हैं । ऐसी कोई सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक दुरवस्था नहीं है, जिससे राष्ट्र के प्रत्येक अंग पीड़ित न हों । दरिद्रता, बीमारी, अशिक्षा , बेकारी, हिन्दू और मुसलमान का विचार नहीं करती ।'[2] प्रेमचन्द का यह कथन आज की परिस्थिति में भी सौ प्रतिशत महत्वपूर्ण है । उन्होंने रेखांकित किया कि अगर आपसी झगड़ों की जगह हिन्दू-मुसलमान एक होकर रचनात्मक कार्य कर सकें

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ० 372 -'एकता-सम्मेलन' ।
2. वही, पृ० 393 - 'आशा का केन्द्र' ।

तो राष्ट्र का उत्थान होगा अन्यथा राष्ट्र ही नहीं बचेगा । उन्होंने समय से सचेत हुए लोगों को उनके फर्ज की याद दिलाते हुए लिखा था -`हमें अधिकार की इसलिए ज़रूरत नहीं है कि थोड़े से शिक्षित आदमियों को मोटी-मोटी असामियां मिलें और वह शान से जीवन व्यतीत करें, बल्कि इसलिए और केवल इसलिए कि हम राष्ट्र को सुखी और सन्तुष्ट कर सकें, शिक्षा का प्रचार कर सकें, कृषकों की हालत सुधार सकें, बेकारी की बला दूर कर सकें । देश में ऐसा वातावरण पैदा कर सकें कि छोटे से छोटे आदमी को भी रहने को झोंपड़े और भोजन केलिए रोटी की कमी न रहे, बड़े से बड़े आदमी छोटे से छोटे आदमी पर भी अत्याचार करके बेदाग़ न बच सकें, सूद के नाम से गरीबों को लूटा न जा सके, अदालतों में न्याय अधिक महंगा और संदिग्ध न हो, पूंजीपति मजूरों का रक्त चूस कर मोटे न हो सकें, जमींदार अपने असामियों पर मनमानी न कर सकें, राजकर्मचारी रिश्वत का बाजार न गर्म कर सकें, तरह-तरह के नए व्यवसाय खोले जायं । हम अधिकार चाहते हैं राष्ट्र-सेवा के लिए । अगर हमारे सामने यह आदर्श है, तो आपस में समझौता होने में कोई रुकावट नहीं हो सकती ।`[1] यह थी प्रेमचन्द की दृष्टि और भारतीय समाज के लिए उनका स्वप्न ।

अपने कथा-साहित्य में भी प्रेमचन्द ने अपनी इसी दृष्टि और स्वप्न को महत्व दिया है । `जिहाद` शीर्षक कहानी में प्रेमचन्द ने चित्रित किया है कि अपने-अपने धर्म की वास्तविकताओं से अपरिचित होने के कारण ही हिंदू-मुस्लिम आपस में लड़ते रहते हैं । `हिंसा परमो धर्म: ` में भी उन्होंने `शुद्धिकरण` और `तबलीग` का वर्णन करते हुए इन दोनों सम्प्रदायों की मूर्खताओं को ही उजागर किया है । `पंच परमेश्वर` शीर्षक कहानी में जुम्मन और अलगू की गाढ़ी मित्रता हिन्दू-मुस्लिम एकता को ही प्रदर्शित करती है । `कर्मभूमि` में सलीम और अमरकान्त की मित्रता इसी एकता की भावना को मजबूत करती है । कहने का आशय यह कि प्रेमचन्द राष्ट्र के हितों

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 393-394 - `आशा का केन्द्र` ।

को ध्यान में रखते हुए जरूरी समझते थे कि हिन्दू-मुस्लिम एक होकर रहें। यद्यपि यह दु:खद है कि ऐसा न तो उसके समय में हो सका और न ही कोई संभावना दीख रही है। उन्हीं के शब्दों में कहें तो - 'साम्प्रदायिक विधालय जिस युग के स्मारक हैं, क्या वह युग समाप्त हो गया है ?'[1]

-

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 367 - 'मिर्जापुर कान्फ्रेंस में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव'।

चतुर्थ अध्याय

किसान समस्या और प्रेमचन्द

`हिया जरत रहत दिन-रैन`

प्रेमचन्द को किसान जीवन का महान् रचनाकार माना जाता है, जो कि उचित भी है । किसान-जीवन की समस्याओं के प्रति जो गहराई और गम्भीरता उनके रचनाकर्म में दिखती है, वह उनके राष्ट्रीय हित चिंता के ही कारण है । वे अच्छी तरह समझ चुके थे कि समाज में जो दलित हैं, स्त्रियां हैं, किसान-मजदूर हैं, इनको सुखी रखने और साथ लेकर चलने से ही राष्ट्रीय समस्याओं का हल हो सकेगा । यहां कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रेमचन्द के समय में किसानों की स्थिति बड़ी दयनीय थी । उन के ऊपर एक ओर अंग्रेजी शासन का दबाव था तो दूसरी ओर जमींदारों का जुल्म । इन दोनों के बीच पिस रहे किसान अपनी मेहनत की कमाई भी खो देते थे । कहना चाहिए कि उन से उनकी मेहनत की कमाई छीन ली जाती थी । सन् 1932 के दिसम्बर में लिखे अपने एक लेख `हतभागे किसान` में प्रेमचन्द ने लिखा था -"भारत के अस्सी फीसदी आदमी खेती करते हैं । कई फीसदी वह हैं जो अपनी जीविका के लिए किसानों के मुहताज हैं, जैसे गांव के बढ़ई, लुहार आदि । राष्ट्र के हाथ में जो कुछ विभूति है, वह इन्हीं किसानों और मजदूरों की मेहनत का सदका है । हमारे स्कूल और विद्यालय, हमारी पुलिस और फौज, हमारी अदालतें और कचहरियां, सब उन्हीं की कमायी के बल पर चलती हैं, लेकिन वही जो राष्ट्र के अन्न और वस्त्रदाता हैं, पेट भर अन्न को तरसते हैं, जाड़े-पाले में ठिठुरते हैं और मक्खियों की तरह मरते हैं ।"[1] अगस्त सन् 1933 के अपने एक अन्य लेख `कृषि सहायक बैंकों की जरूरत` में उन्होंने लिखा कि 'कृषि भारत का मुख्य व्यवसाय है, पर उसे नोचने वाले तो सब हैं, उसको प्रोत्साहन देने वाला कोई नहीं । उसे भूखों मर कर, पैसे-पैसे के लिए महाजन का मुंह देख कर,

---

1. विविध-प्रसंग, भाग - 2, पृ0 486

अपना जीवन काटना पड़ता है ।'[1] यह थी प्रेमचन्द युगीन किसानों की स्थिति ।'गोदान' में भोला होरी से कहता है -'कौन कहता है कि हम-तुम आदमी हैं । हम में आदमियत कहां ? आदमी तो वह है जिस के पास धन है, अख्तियार है, इल्म है । हम लोग तो बैल हैं और जुतने के लिए पैदा हुए हैं ।'[2] बहुत पीड़ा के साथ कहे गये ये वाक्य अपने समय की सच्चाई को व्यंग्य से उभारते हैं ।

आजादी से पहले के भारत में जमींदारों का बहुत जोर था । अधिकांश जमींदार अंग्रेजों के खिदमतगार थे और उनकी कृपा-दृष्टि पाकर रैयत पर तरह-तरह के अत्याचार करते थे । ये जमींदार ही अंग्रेजों का शासन मजबूत करते थे । अपने भोग-विलास के लिए किसानों पर लगान का बोझ लाद कर खुश रहते थे । इनकी स्थिति और अत्याचार से राष्ट्रीय आन्दोलन को भी क्षति पहुंच रही थी । इनके विषय में प्रेमचन्द ने लिखा था -'दिल्लगी यह है कि आज भी जमींदार साहबान अपने को जमीन का मालिक ही समझते हैं । अंग्रेजी सरकार के पहले उनकी हैसियत दलालों की थी, जो बादशाह की ओर से लगान वसूल करने के लिए रखे जाते थे और लगान न अदा कर सकने पर निकाल बाहर किए जाते थे और बड़ी जिल्लत के साथ । अंग्रेजी राज्य में उनका मान बढ़ गया । सरकार को देश में एक ऐसे जत्थे की जरूरत थी, जो प्रजा पर उसकी हुकूमत जमाने में सहायक हो । उसने यह काम इन्हीं लगान वसूल करने वालों से लिया । तब से यह लोग अपने को जमीन का मालिक समझने लगे ।'[3] यह थी जमींदारों की उत्पत्ति-कथा । आगे इनके अत्याचार को रेखांकित करते हुए साफ-साफ इनके अस्तित्व के मिटने की संभावना व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा -'आप जमीन के मालिक नहीं खुदा सही,

---

1. विविध-प्रसंग, भाग - 2, पृ0 497-498
2. गोदान, पृ0 22
3. विविध-प्रसंग, भाग-2, पृ0 506 - 'आगरा जमींदार सम्मेलन ।'

लेकिन आप प्रजा के लिए क्या करते हैं ? आप प्रजा के दिए हुए कर में से पचास फीसदी लेते हैं, तो उसके बदले आप प्रजा के साथ क्या सलूक करते हैं ? आप अगर बीज देते हैं, तो उसका ड्योढ़ा वसूल करते हैं, अगर लकड़ी या बांस देते हैं, तो उसके बदले में चौगुनी बेगार लेते हैं, और आज आप का अस्तित्व इतना निरर्थक हो गया है कि आप को यह शंका हो रही है कि कहीं भविष्य में आपका निशान ही न मिट जाय ।'[1] सन् 1934 के इस कथन को पढ़ते हुए याद रखना आवश्यक है कि इससे पहले बाबा रामचन्द्र के नेतृत्व में अवध का किसान आन्दोलन हो चुका था । इस आन्दोलन की उष्मा ने जमींदारों को हिला कर रख दिया था । इनकी जायदाद रक्षा के लिए सरकारी प्रयासों की आलोचना करते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि - '... उन्हीं जमींदारों में बहुत ऐसे हैं, जिनका अधिकांश जीवन नगरों की विलासिता में व्यतीत होता है । उन्हें अपनी प्रजा से केवल इतना सम्बन्ध है कि प्रजा उनकी सीधी, बेज़बान, दुधार गाय है । उनका काम केवल गाय का दूध दुह लेना है । गाय को भूसा खली भी मिलता है या नहीं, इसकी उन्हें बिल्कुल चिन्ता नहीं होती । कितने ही तो अपने इलाके का दर्शन तक नहीं करते । मुख्तार उन्हें रुपये देता जाय, बस, और उनसे प्रजा के सुख-दुख से प्रयोजन नहीं । ऐसे जमींदारों की रक्षा करके सरकार उनकी विलासी मनोवृत्ति को और प्रोत्साहित करेगी ।'[2] जमींदारों के प्रति प्रेमचन्द का दृष्टिकोण उनकी कहानियों और उपन्यासों में भी साफ है । 'उपदेश' कहानी के जमींदार पंडित देवरत्न पर व्यंग्य-पूर्ण टिप्पणी करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं -'कृषि सम्बन्धी विषयों से उन्हें विशेष प्रेम था । पत्रों में जहां कहीं किसी नयी खाद या किसी नवीन आविष्कार का वर्णन देखते, तत्काल उस पर लाल पेंसिल से निशान कर देते और अपने लेखों में उसकी चर्चा करते थे । किन्तु शहर से थोड़ी दूर पर उनका

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ० 506 -'आगरा जमींदार सम्मेलन' ।
2. वही, पृ० 382

एक बड़ा ग्राम होने पर भी, वह अपने किसी आसामी से परिचित न थे ।'[1] 'नशा' में जमींदार का पुत्र ईश्वरी अपने निर्धन मित्र को अपने घर ले जाते हुए समझाता है -'लेकिन भाई, एक बात का ख्याल रखना । अगर वहां जमींदारों की निंदा की तो मुआमिला बिगड़ जायगा और मेरे घर वालों को बुरा लगेगा । वह लोग तो असामियों पर इसी दावे से शासन करते हैं कि ईश्वर ने असामियों को उनकी सेवा के लिए ही पैदा किया है । आसामी भी यही समझता है । अगर उसे सुझाव दिया जाय कि जमींदार और असामी में कोई मौलिक भेद नहीं है, तो जमींदारों का कहीं पता न लगे ।'[2] 'नमक का दारोगा' के पंडित अलोपीदीन के विषय में प्रेमचंद लिखते हैं -'पंडित अलोपीदीन इस इलाके के सबसे प्रतिष्ठित जमींदार थे । लाखों रुपये की लेन-देन करते थे । इधर कोटे से बड़े कौन ऐसे थे, जो उन के ऋणी न हों । व्यापार भी लम्बा-चौड़ा था ।... अंग्रेज अफसर उन के इलाके में शिकार खेलने जाते और उनके मेहमान होते ।'[3]

'सेवासदन' उपन्यास में जमींदार महंथ रामदास यज्ञ और तीर्थ-यात्रा के लिए अपने असामियों पर हल पीछे पांच रुपया चंदा लगा देते हैं । एक वृद्ध अहीर चेतू इसका विरोध करता है तो उसकी हत्या करवा देते हैं । 'प्रेमाश्रम' में जमींदार परिवार की ही सदस्या विद्या कहती है -'उस समय जब अकाल पड़ा और प्लेग भी फैला, तब हम लोग इलाके पर गए । ... उन दिनों की बाबूजी की निर्दयता देखकर मेरे रोयें खड़े हो जाते थे । असामियों से रुपये वसूल न होते और हमारे यहां नित्य नाच-रंग होता रहता था । बाबू जी को उड़ाने के लिए रुपये न मिलते तो वह चिढ़ कर

---

1. उपदेश - मानसरोवर, भाग 8, पृ0 277
2. नशा - इक्यावन श्रेष्ठ कहानियां - प्रेमचंद, पृ0 80
3. नमक का दारोगा - मानसरोवर - भाग 8, पृ0 269

असामियों पर गुस्सा उतारते । सौ-सौ मनुष्यों को एक पांत में खड़ा करके हंटरों से मारने लगते । बेचारे तड़प-तड़प कर रह जाते, पर उन्हें तनिक भी दया न आती थी ।"[1] 'पछतावा' कहानी के जमींदार कुंवर विशाल सिंह कहते हैं -"इन लोगों (किसानों) पर बकाया लगान की नालिश की जाएगी, फसल नीलाम करा लूंगा । जब भूखे मरेंगे तब सूझेगी । जो रुपया वसूल हो चुका है, वह बीज और ऋण के खाते में चढ़ा लीजिए ।"[2] ये थे जमींदार । फिर कोई इनकी समाप्ति की मंशा क्यों न रखे । जनता के पास खाने को अन्न नहीं है और 'गोदान' के जमींदार राय साहब को रामलीला कराने के लिए गांव से पांच सौ रुपये की अपेक्षा है ।[3]

एक ओर किसानों पर लूट और दूसरी ओर उनकी स्थिति का कोई ख्याल नहीं । कृषि की उन्नति के विषय में कोई चिन्ता नहीं । प्रेमचन्द इसको रेखांकित करते हुए एक 'हेटा' प्रस्तुत करते हैं -"लार्ड कर्जन ने 1901 में यहां की व्यक्तिगत आय का अनुमान तीस रुपया साल किया था । 1915 में एक दूसरे हिसाबदां ने इस अनुमान को पचास रुपये तक पहुंचाया और 1915 में वह समय था जब यौरोपीय महाभारत ने चीजों का मूल्य बहुत बढ़ा दिया था । 1930 में वही हालत फिर हो गयी जो 1901 में थी और हिसाब लगाया जाय तो आज हमारी व्यक्तिगत आय शायद पच्चीस रुपये से अधिक न हो, पर आज तक किसी ने किसानों की दशा की ओर ध्यान नहीं दिया और उनकी दशा आज भी वैसी है जो पहले थी । उनके खेती के औजार, साधन, कृषि-विधि, कर्ज, दरिद्रता, सब कुछ पूर्ववत है ।"[4]

प्रेमचन्द इस बात को लेकर बिल्कुल ही साफ थे कि राष्ट्रीय उन्नति

---

1. प्रेमाश्रम, पृ0 85
2. पछतावा - मानसरोवर, भाग 6, पृ0 233
3. गोदान, पृ0 16
4. विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 486-487

के लिए किसानों-मजदूरों का विकास बहुत आवश्यक है । अपनी इसी विचारधारा के तहत वे किसानों के पक्ष में खड़े होते हैं । उनके लिए यह बड़े दु:ख का विषय था कि मुट्ठी भर लोग देश की अस्सी फीसदी से अधिक आबादी को चूस रहे हैं । दिन-रात परिश्रम करने वाले भूखों मरते हैं और आराम से `खटिया` तोड़ने वाले मौज करते हैं । उन्होंने अक्टूबर 1932 में अपने एक लेख में लिखा कि -`कौन नहीं जानता कि भारत के किसान बुरी तरह कर्ज के नीचे दबे हुए हैं । उनका प्राय: सभी काम कर्ज से ही चलता है । बीज वह सूद पर लेते हैं या पठानों से । बैल भी वह प्राय: फेरी करने वाले व्यापारियों से उधार ही लिया करते हैं । शादी-गमी, तीर्थ-व्रत में तो अपनी सम्मान-रक्षा केलिए उन्हें कर्ज़ लेना ही पड़ता है । ... कितने जमींदार और साहूकार किसानों या किसान-मजूरों को सौ पचास रुपया उधार देकर उनसे यावज्जीवन मजदूरी कराते रहते हैं ।`[1] उन्होंने `सवा सेर गेहूं ` कहानी में इसी मार्मिक यथार्थ को उद्घाटित किया है । पिता की मृत्यु के बाद पुत्र से भी बेगार करवाया जाता है । और ऐसा करवाते हुए मन में कोई झिझक नहीं होती । दुनिया को भगवान का भय दिखाने वाले ऐसे मामलों में भगवान से भी ऊपर हो जाते हैं ।

कर्ज में डूबे भारतीय किसानों के विषय में अपने एक अन्य लेख `जबर्दस्ती` में प्रेमचन्द ने लिखा -`भारतीय किसानों की इस समय जैसी दयनीय दशा है, उसे कोई शब्दों में अंकित नहीं कर सकता । उनकी दुर्दशा को वे स्वयं जानते हैं - या उनका भगवान जानता है । जमींदार को समय पर मालगुजारी चाहिए, सरकार को समय पर लगान चाहिए, खाने के लिए दो मुट्ठी अन्न चाहिए, पहनने के लिए एक चीजड़ा चाहिए, चाहिए सब कुछ, पर एक ओर तुषार तथा अतिवृष्टि फसल को चौपट कर रही है, एक ओर आंधी उनके रहे-सहे खेत को भी भ्रष्ट कर रही है - दूसरी ओर रोग, प्लेग, हैजा, शीतला, उनके नौजवानों को हरी-भरी तथा लहलहाती जवानी

---

1. विविध प्रसंग, भाग 2, पृ0 483

में उसी तरह दुनिया से उठाये लिए चली जा रही है, जिस तरह लहलहाता खेत अभी छः दिन पूर्व के पत्थर-पाले से जल गया । गल्ला पैदा हो रहा है, पर भाव इतना मन्दा है कि कोई दो वक्त भोजन भी नहीं कर सकता। स्त्री के तन पर जो दो-चार गहने थे, वे साहूकार के पेट से बच कर सरकार की मालगुजारी के पेट में चले गए । नन्हें बच्चे, जो चीथड़ा ओढ़ कर जाड़ा काटते थे, वही अब उनका पिता पहन कर तन की लाज ढंक रहा है ।माता के पास केवल इतना ही वस्त्र है, जितने से वह घूंघट काढ़ सके -धोती चाहे टेहुने तक ही क्यों न खिसक आए ।'[1] यह भी भारतीय समाज में किसान की स्थिति । और जमींदार को मालगुजारी चाहिए ।'पूस की रात' में हल्कू के जौड़े पैसे जमींदार ले लेता है । उसकी फसल जानवर नष्ट कर देते हैं । ठण्ड में उसके पास कपड़ा नहीं है, इसलिए मारे ठण्ड के वह जानवरों को नहीं भगा पाता । इतनी दयनीय स्थिति के बाद भी जमींदार से पीछा नहीं छूटना है । उसकी पत्नी मुन्नी दुखी होकर कहती है -'अब मजूरी कर के मालगुजारी भरनी पड़ेगी ।'[2] इससे अधिक अमानवीयता क्या होगी कि भरे पेट के लोग अधिकार समझ कर अत्याचार करते हैं ।'गोदान' में होरी कहता है -'साठ तक पहुंचने की नौबत न आएगी धनिया । इसके पहले ही चल देंगे ।'[3] भारतीय किसान का प्रतिनिधित्व करता होरी भारतीय किसान के जीवन के सर्वाधिक कटु पक्ष की ओर इशारा करता है । जिन्हें भूखे रहकर कठिन परिश्रम करना हो, बिना कपड़ों के पूस की रातें काटनी हों, चैत-वैशाख की धूप-लू में जलना-चलना और ठटना हो, वे भरी जवानी में न मरेंगे तो कौन मरेगा !

प्रेमचन्द किसानों के हित के लिए नए-नए उपाय सोचने में लगे थे,

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2 - पृ0 490
2. पूस की रात - इक्यावन श्रेष्ठ कहानियां, प्रेमचन्द, पृ0 104
3. गोदान, पृ0 8

ताकि इस वर्ग का उद्धार हो सके । यहां ध्यान देने की आवश्यकता है कि पूरे लेखन में प्रेमचन्द किसानों को जातियों अथवा धर्म में न बांट कर एक वर्ग के रूप में देखते हैं । इस रूप में देखने पर ही किसानों का हित तब भी था, आज भी है । इस हित-चिन्ता के फलस्वरूप ही वे किसानों के लिए चकबन्दी की बात कर रहे थे । सन् 1932 के अक्टूबर में उन्होंने अपने लेख 'अराजी की चकबन्दी' में लिखा -'जब तक चकबन्दी न की जाएगी, कृषि में कोई सुधार न होगा, न नई जिन्सें पैदा की जा सकेंगी । कृषि की उन्नति की यह पहली सीढ़ी है और हमें आशा है, सरकार इसे हाथ में लेने में देर न करेगी ।'[1] इसी वर्ष अपने एक अन्य लेख 'हतभागे किसान' में उन्होंने लिखा -'दूसरी जरूरत जमीन की चकबन्दी है । जमीन का बंटवारा इतनी कसरत से हुआ है और हो रहा है कि जिसकी कोई हद नहीं । दक्षिण में सन् 1771 ई० से औसत जमाबन्दी चालीस एकड़ थी । 1915 ई० में वह केवल सात एकड़ रह गयी । बंगाल में तीन एकड़ है और संयुक्त प्रान्त में केवल डेढ़ एकड़ । यह डेढ़ एकड़ भी गांव के चारों दिशाओं में स्थित होता है, इसलिए उसमें बहुत परिश्रम व्यर्थ हो जाता है । चकबन्दी हो जाने से इतना फायदा होगा कि किसान अपने चक को बाड़ों से घेर सकेगा, उसमें कुएं बनवा सकेगा, खेती की निगरानी कर सकेगा । इससे उसकी उपज में कुछ बढ़ती होने की आशा हो सकती है ।'[2] आज भी चकबन्दी किसानों के लिए बहुत राहत की बात होती है । यद्यपि कुछ लोग पैसे के जोर पर इसमें भी फायदा उठाते ही हैं तथापि यह एक उचित व्यवस्था है जिसने प्रेमचन्द के बाद के समय (आजादी के बाद) में अपनी सार्थकता को बखूबी साबित किया है । प्रेमचन्द की मान्यता थी कि 'हमें तो उन्नति के लिए ऐसे विधानों की जरूरत है जो समाज में विप्लव किए बिना ही काम में लाए जा सकें ।'[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि चकबन्दी एक ऐसा ही विधान है ।

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2, पृ० 486
2. वही, पृ० 488
3. वही, पृ० 487

प्रेमचन्द अपने आरंभिक लेखन में जमींदारी व्यवस्था में सुधार की आकांक्षा रखते दीख पड़ते हैं किन्तु जैसे-जैसे उनका लेखन प्रौढ़ हुआ है, वैसे-वैसे वे जमींदारी प्रथा के उन्मूलन की ओर अग्रसर होते दीख पड़ते हैं । वे साफ-साफ जमींदारों की उपादेयता पर प्रश्न खड़ा कर देते हैं । उनके लिए कृषि व्यवस्था में अगर कोई महत्वपूर्ण है तो सिर्फ किसान और मजदूर । वे इन दोनों वर्गों का जम कर पक्ष लेते हैं। सन् 1932 में लिखे अपने एक लेख `हतभागे किसान` में वे लिखते हैं -"खेती की पैदावार बढ़ाने की ओर अभी तक काफ़ी ध्यान नहीं दिया गया । सरकार ने अभी तक केवल प्रदर्शन और प्रचार की सीमा के अन्दर रहना ही उपयुक्त समझा है । अच्छे औजारों, अच्छे बीजों, अच्छी खादों का केवल दिखा देना ही काफी नहीं है । सौ में दो किसान इस प्रदर्शन से फायदा उठा सकते हैं । जिनको भोजन का ठिकाना नहीं है, जो नाक तक ऋण के नीचे दबा हुआ है, उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह नयी तरह के बीज या औजार या खाद खरीदेगा । उसे तो पुरानी लीक से जौ भर हटना भी दुस्साहस मालूम होता है । उसमें कोई परीक्षा करने की, किसी नयी परीक्षा का जोखिम उठाने की सामर्थ्य नहीं है । उसे तो लागत के दामों में यह चीजें किस्तवार अदायगी की शर्त पर दी जानी चाहिएं । सरकार के पास इन कामों के लिए हमेशा धन का अभाव रहता है । हमारे विचार में इससे ज्यादा जरूरी सरकार के लिए कोई काम ही नहीं है ।"[1] प्रेमचन्द संभवत: अकेले लेखक हैं जो इतने प्रखर ढंग से किसानों के विषय में सरकार के दायित्व की चर्चा करते हैं । इतना ही नहीं, वे प्रान्तीय कौंसिल में जनता के प्रतिनिधियों से अपील भी करते हैं कि यदि सरकार किसानों के हित में कोई काम कर रही हो तो वे उसका सहयोग ही करें, क्योंकि इससे किसानों को फायदा होगा अर्थात् प्रकारान्तर से राष्ट्र को फायदा होगा । अर्थात्

---

1. विविध प्रसंग - भाग - 2, पृ0 488

उन्होंने अपने लेख `किसानों का कर्जा ` में लिखा -`यदि प्रान्तीय कौंसिल में सरकार किसानों के हित के लिए कोई कानून बनाना चाहती है, तो जनता के प्रतिनिधियों को चाहिए कि वे सरकार का समर्थन करें ।`[1] प्रेमचंद जानते थे कि किसी बड़ी उपलब्धि के लिए कुछ घाटा भी सहा जा सकता है । सरकार का सहयोग भी ऐसा ही घाटा था । किसानों के व्यापक हित को देखते हुए वे `राव कृष्णपाल सिंह` की पांच बातों का समर्थन करते हैं । ये पांच बातें हैं --

(1) उचित मात्रा में लगान घटा दिया जावे । लगान माफी या किश्त-बन्दी का तरीका चलाया जावे । भूमि-कर जमींदार की वास्तविक वसूली के हिसाब से लगाया जावे, न कि उसकी वसूली की संभावना पर ।

(2) नहर का रेट इतना घटा दिया जावे कि सब के लिए आबपाशी सस्ता पड़े । आजकल की तरह केवल अमीरों के काम लायक ही न हो।

(3) जमींदारों को उनकी जिम्मेदारी सिखलानी चाहिए तथा जायज वसूली से अधिक वसूली करने की आज्ञा उन्हें नहीं देनी चाहिए ।

(4) किसानों का मौजूदा कर्जा जहां तक हो काट दिया जावे और कानून बना कर सूद की दर तय कर दी जावे । साहूकारों को बही-खाता रखने के लिए बाध्य किया जावे तथा उन्हें केवल किसान को खरीद लेने के लिए `रुपया` देने से रोका जावे ।

(5) सरकारी अफसरों को किसानों से नाजायज वसूली से रोका जावे । बड़े सरकारी कर्मचारियों के वेतन में कमी की जावे, और उससे रुपया बचा कर बहुत ही कम वेतन पाने वाले सरकारी कर्मचारियों का वेतन बढ़ा दिया जावे ।`[2]

---

1. विविध प्रसंग - भाग 2, पृ0 494
2. वही, पृ0 491-492

इस प्रकार उनके चिन्तन के केन्द्र में छोटे कर्मचारी भी आ जाते हैं । इन बातों की ओर सरकार का ध्यान दिलाते हुए उन्होंने लिखा है कि -`इतना हम कह देना चाहते हैं कि यदि राव साहब की योजना को सरकार ने नहीं स्वीकार किया, तो सिद्ध हो जाएगा कि वह किसानों के हित का विशेष ध्यान नहीं रखती ।`[1]

सरकार की बात अपनी जगह पर है । प्रेमचन्द मूल समस्या की ओर दृष्टि डालते हैं कि किसानों में `एका` ही नहीं है ।`गोदान` में भोला कहता है -`हम लोग तो बैल हैं और जुतने के लिए पैदा हुए हैं । उस पर भी एक दूसरे को देख नहीं सकते । एका का नाम नहीं । एक किसान दूसरे के खेत पर न चढ़े तो जफा कैसे करे, प्रेम तो संसार से उठ गया ।`[2] इसी `एका` की ओर ध्यान दिलाते हुए उन्होंने अपने लेख `शक्कर सम्मेलन` में लिखा - `जब तक देश के सुदिन नहीं आते और सभी व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण नहीं हो जाता, पूंजीपतियों के हाथ में किसानों और मजूरों की किस्मत रहेगी और सरकार ऊपरी मन से नियन्त्रण करने का स्वांग भर कर कोई उपकार नहीं कर सकती । हम तो किसानों को यही सलाह देंगे कि वे खुद अपना संगठन करें ।`[3] यहां याद रखने की बात है कि सन् 1933 में जब प्रेमचन्द ये बातें लिख रहे थे, उससे पूर्व बारदोली और अवध में किसान आन्दोलन हो चुके थे । यह बात साफ है कि उन के ऊपर इन आन्दोलनों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था । बारदोली किसान आन्दोलन का प्रभाव कर्मभूमि में दिखता है । `कर्मभूमि की रचना के कुछ ही समय पूर्व 1928 ई० में बारदोली के किसानों का आन्दोलन सफलतापूर्वक समाप्त हो चुका था । `कर्मभूमि` पर बारदोली के किसानों की इस विजय का भी अप्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है । संयुक्त प्रान्त के किसानों के लगान-बन्दी आन्दोलन को तो प्रेमचन्द ने अपने आसपास ही अपनी आंखों से देखा और अनुभव किया था । `कर्मभूमि` के

---

1. विविध प्रसंग , भाग - 2, पृ० 492
2. गोदान, पृ० 22
3. विविध प्रसंग - भाग - 2, पृ० 496

लगानबन्दी आन्दोलन के मूल में 1929 ई० का वह विश्वव्यापी आर्थिक संकट है जिसका सर्वाधिक प्रत्यक्ष दुष्प्रभाव किसानों पर पड़ा । प्रेमचन्द ने 1929 ई० की आर्थिक मंदी से उत्पन्न परिस्थितियों के चित्रण का श्लाघनीय प्रयत्न किया है और लगानबन्दी आन्दोलन के चित्र खींच कर सरकारी दमन-नीति की क्रूरता और नृशंसता का नग्न नृत्य दिखाया है । किसान-आन्दोलन में उग्र-दल का प्रतिनिधि आत्मानन्द है और समझौते की राह चलने वालों का प्रतिनिधि अमरकान्त । वह जमींदारों और किसानों के मध्य समझौता कराना चाहता है किन्तु परिस्थितियां उसका साथ नहीं देतीं और उसे आन्दोलन करना पड़ता है । उसकी जेल यात्रा भी आन्दोलन-कालीन नेता की भांति ही चित्रित की गई है ।[1] कहने का आशय यह कि किसान संघर्षों के जीवन्त चित्रण में प्रेमचन्द को समाज में हो रहे आन्दोलनों से भी बल मिला । यद्यपि उन्होंने अवध-किसान आन्दोलन से पूर्व लिखे गए `प्रेमाश्रम`[2] में किसानों के व्यापक संघर्ष को चित्रित किया । यहां यह लिखना जरूरी है कि प्रेमाश्रम की रचना से ठीक पहले चम्पारन में किसान संघर्ष हुआ था । प्रेमाश्रम में किसानों पर हो रहे जुल्म और उसके विरुद्ध किसानों के संघर्ष, दोनों का प्रभावशाली चित्रण है । किसानों की दयनीय स्थिति को समाप्त करने का प्रेमचन्द को एक ही मार्ग दीख पड़ता है - विद्रोह का मार्ग। वे जान चुके थे कि ये अत्याचारी जमींदार रास्ते पर आने वाले नहीं हैं । `प्रेमाश्रम` में गर्मी के मौसम में कादिरा गौस खां तालाब का पानी रोक लेता है । गांव वाले इस पर विरोध करते हैं । बात बढ़ती देख कादिर वहां से हटने लगते हैं तो पहले का जमींदार का आदमी सुक्खू चौधरी उनका हाथ पकड़ कर रोक लेता है -`कहां जाते हो कादिर भैया । जब तक यहां कोई निपटारा न हो जाए, तुम जाने न पाओगे । जब जा-बेजा हर एक मामले में इसी तरह दबना है तो गांव के सरगना काहे को बनते हो ?`

---

1. प्रेमचन्द युगीन भारतीय समाज - डा० इन्द्रमोहन कुमार सिन्हा, पृ० 184
2. प्रेमाश्रम के मूल उर्दू मसौदे की रचना 2 मई 1918 को शुरू होकर 25 फरवरी 1920 को पूरी हो गयी । अवध का किसान आन्दोलन 1921 की जनवरी में शुरू हुआ ।

`कादिर खाँ - तो क्या कहते हो लाठी चलाऊं ?

सुक्खू - और लाठी है किस दिन के लिए ?

कादिर - किसके बूते पर लाठी चलेगी ? गांव में रह कौन गया है ? अल्लाह ने पट्ठों को चुन लिया ।

सुक्खू - पट्ठे नहीं हैं न सही, बूढ़े तो हैं ? हम लोगों की जिन्दगानी किस रोज काम आएगी ?`[1]

इस प्रकार परिस्थिति की मांग के फलस्वरूप सुक्खू चौधरी जैसे किसान भी विद्रोह की ओर बढ़ते हैं । इस प्रसंग में सुक्खू का संघर्ष रंग लाता है और उन्हें डिग्री मिल जाती है । कहने का आशय यह कि प्रेमचन्द के समय में किसानों की स्थिति बिलकुल ही अच्छी न थी, लेकिन जो सकारात्मक बात थी, वह यह कि किसान अपने हकों के प्रति सजग होने लगे थे । `प्रेमाश्रम` में ही बलराज कहता है -`जब से दुनिया का थोड़ा-बहुत हाल जानने लगा हूं, मुझसे अन्याय नहीं देखा जाता । जब किसी जबरे को किसी गरीब का गला दबाते देखता हूं तो मेरे बदन में आग-सी लग जाती है ।`[2] एक अन्य स्थल पर वह कहता है -`जमींदार कोई बादशाह नहीं है कि चाहे जितनी जबरदस्ती करे और हम मुंह न खोलें । इस जमाने में बादशाहों का भी इतना अख्तियार नहीं, जमींदार किस गिनती में हैं ?`[3] बलराज अन्याय के विरुद्ध खड़ी होने वाली युवा पीढ़ी का प्रतीक है । वह रूस की बोल्सेविक क्रान्ति से प्रभावित है । वह जानता है कि -`रूस में काश्तकारों का ही राज है, वह जो चाहते हैं करते हैं । उसी के पास कोई और देश बेगारी है । वहां अभी हाल ही की बात है, काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है ।`[4] किसानों की

---

1. प्रेमाश्रम, पृ0 181
2. वही, पृ0 63
3. वही, पृ0 52
4. वही, पृ0 53

दयनीय स्थिति के विरुद्ध विद्रोह करते हुए कादिर जैसा सहिष्णु व्यक्ति कहता है -'हम भी इसी धरती में पैदा हुए हैं और एक दिन इसी में समा जाएंगे । फिर यह चोट क्यों सहें ? धरती के लिए ही छत्रधारियों के सिर गिर जाते हैं, हम भी अपना सिर गिरा देंगे ।'[1] ये प्रेमचन्द के समय के बदलते हुए किसान थे जो प्रथम विश्वयुद्ध में मोर्चे से लौटते हुए अपने साथ जनतन्त्र की भावना और देश-दुनिया की खबरें लेकर आए थे । अब उनको बहुत दिनों तक दबाना संभव न था । प्रेमचन्द अपने इस पहले उपन्यास में ही इस नतीजे पर पहुंच चुके थे कि जब तक जमींदारी व्यवस्था रहेगी, तब तक व्यवस्था में कोई फर्क नहीं आ पाएगा । यह समझ उन्होंने टालस्टाय से हासिल की थी । कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द टालस्टाय के बड़े प्रशंसकों में थे और उनकी कई कहानियों का अनुवाद भी किया था । यहां यह लिखना जरूरी लगता है कि टालस्टाय किसानों के प्रसंग में क्रान्तिकारी थे और लेनिन ने उन्हें 1905 की रूसी क्रान्ति का दर्पण कहा था । वैसे कुछ मार्क्सवादी विचारक उन्हें प्रतिक्रियावादी लेखक भी मानते हैं । प्रेमचन्द किसान-जीवन के यथार्थ को गहराई से पकड़ते हैं । वे किसानों की पीड़ा को शिद्दत से महसूस करते हैं । गोदान की सारी महाकाव्यात्मकता ही होरी की पीड़ा में है । यहां तक आते-आते प्रेमचन्द ने जान लिया था कि किसानों की समस्याओं को टुकड़े में नहीं समाप्त किया जा सकता । इसकेलिए व्यापक परिवर्तन की आवश्यकता है ।

किसान जीवन की समस्याओं को लेकर प्रेमचन्द ने दो अन्य मार्मिक कहानियां भी लिखी हैं । क्रमश: ये कहानियां `बलिदान` (1918) और `विध्वंस` (1921) नज़राना और बेगार प्रथा पर आधृत अत्यन्त प्रभावशाली कहानियां हैं । `बलिदान` शीर्षक कहानी का नायक गिरधारी अपने पिता की मृत्यु के बाद जमींदार को उसकी इच्छानुकूल नज़राना न दे पाने की

---

1. प्रेमाश्रम, पृ० वही 205

की स्थिति में खेत से हाथ धो बैठता है । प्रेमचन्द ने अपनी इस कहानी में किसान के अपने खेतों से लगाव को चित्रित करते हुए दिखलाया है कि गिरधारी की आत्मा खेतों पर मंडराने लगी, जिससे कोई भी किसान उस खेत को लेने से इन्कार करने लगा । यहां गिरधारी की आत्मा मंडराने के प्रश्न को भूत-प्रेत से जोड़ना उचित नहीं है । दरअसल यह गिरधारी के दु:खों और कष्ट का ही विस्तार है । अमृतराय के अनुसार `गांधी के सत्याग्रह` का एक प्रयोग है ।यह भी कहा जा सकता है कि निर्बल की आह का परिणाम है । वे खेत बंजर पड़े रह जाते हैं । कथाकार ने दिखलाया है कि अगर `वे खेत गिरधारी के नहीं हो सकते तो किसी के नहीं होंगे ।`[1] कहानी के विस्तार को छोड़ें तो मूल प्रश्न नज़राना है । जमींदारों के शोषण का एक नया हथियार । इस प्रथा के खिलाफ 9 फरवरी 1920 के `प्रताप` में अवध के एक किसान जगदत्त सिंह, फौजी सिपाही की एक चिट्ठी छपी : `अवध के किसान` । जगदत्त सिंह ने लिखा -`अवध की भोली प्रजा यह पुकारकर कहती है कि काश्तकारान से जमींदार खेत छीन लेते हैं । किसान जब खेती के लिए जमींदारान के पास जाते हैं, तब जमींदारान किसानों से पूछते हैं कि कितने रुपये नजर दोगे ? किसान कहते हैं कि जो आप फरमावें । इस प्रकार अधिक रुपये नजर लेकर किसी दूसरे किसान पर बेदखली लगा कर जमीन छीन कर, जमींदार उस किसान को जमीन दे देते हैं । कुछ वर्षों के बाद दूसरे से जमीन छीन कर तीसरे किसान को दे देते हैं और नजर तथा मालगुजारी उससे और अधिक तय करते हैं । ... किसान की मृत्यु के पश्चात् जमीन का किसान के लड़के-बच्चों से छीन लिया जाना भी अधर्म है । इस प्रकार का अन्याय बाराबंकी, लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली आदि में बहुतायत से दिखलाई पड़ता है । क्या जमींदार लोग इधर ध्यान देंगे ?`[2] ध्यान देने की बात है कि उस काल में नज़राना चुकाने के लिए किसानों को बेटियां तक बेचनी पड़ीं,

---

1. किसान, राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्द - वीरभारत तलवार, पृ0 260
2. वही, पृ0 258-259

आत्महत्याएं करनी पड़ीं । प्रेमचन्द ने शोषण की इस बेहूदी प्रथा पर प्रश्न खड़ा किया । इसी प्रकार उन्होंने 'विध्वंस' शीर्षक कहानी में 'बेगार प्रथा' का मार्मिक चित्रण किया । कहानी की नायिका भुनगी बेगार में जमींदार उदयभानु पाण्डे का चना समय पर नहीं भून पाती है । जमींदार इसे अपना अपमान समझते हुए उसका भाड़ खुदवा कर फिंकवा देता है । वह फिर बनाती है तो जमींदार उसके नाद पर लात चलाता है जो उसकी कमर पर लगती है । बुढ़िया झुकने के बजाय तन कर खड़ी हो जाती है । जमींदार उस से गांव छोड़ने को कहता है तो 'बलिदान' के गिरधारी के ठीक विपरीत उसे चुनौती देती हुई कहती है -'क्यों छोड़कर निकल जाऊं ? बारह साल खेत जोतने से असामी भी काश्तकार हो जाता है । मैं तो फूसपड़े में बूढ़ी हो गई । मेरे सास-ससुर और उनके बाप-दादे इसी फूसपड़ी में रहे । अब इसे यमराज को छोड़कर और कोई मुझसे नहीं ले सकता ।'[1] वह सामन्ती व्यवस्था को चुनौती देती है और अपने कथन को सत्य सिद्ध करती हुई जमींदार द्वारा फूसपड़ी में आग लगाए जाने पर उसी में कूद कर जान दे देती है । लेकिन कहानी यहीं तक नहीं है । आग बढ़ती है और पूरे गांव को अपने चपेटे में ले लेती है । फलस्वरूप जमींदार का घर भी जल कर भस्म हो जाता है और परिजन भी उसी में जल कर मर जाते हैं । प्रेमचन्द ने लिखा है -'ज्वालाएं और भड़कीं और पंडित जी के विशाल भवन को दबोच बैठीं । देखते ही देखते वह भवन उस नौका की भांति जो तरंगों के बीच में झकोरे खा रही हो, अग्नि-सागर में विलीन हो गया और वह क्रन्दन-ध्वनि जो उसके भस्मावशेष में प्रस्फुटित होने लगी, भुनगी के शोकमय विलाप से भी अधिक करुणाकारी थी ।'[2] प्रेमचन्द दिखलाना चाहते थे कि जो आग गरीबों को जलाती है, वही आग लाने वालों को भी नष्ट कर देती है । उस व्यवस्था को जड़-मूल से साफ कर देती है । कहानी के प्रसंग में तो ठीक

---

1. मानसरोवर, भाग - 8, पृ0 182
2. वही, पृ0 183

है कि भुनगी तन कर खड़ी हो गयी, लेकिन बहुतायत में ऐसा नहीं होता था । यह बेगार व्यवस्था न सिर्फ किसानों को, बल्कि नाई, धोबी, जुलाहे, गड़ेरिए आदि को भी त्रस्त किए हुए थी । प्रेमचन्द ने इस और प्रभावशाली ढंग से लोगों का ध्यान आकृष्ट किया ।

प्रेमचन्द को किसानों से गहरा लगाव था । उसी प्रकार का लगाव जैसे किसान का अपने खेतों के प्रति और मां-बाप का अपने बच्चों के प्रति होता है । वे संभवत: भारतीय साहित्य में पहले लेखक थे, जिन्होंने जमींदारी प्रथा को समाप्त करने की बात कही और यह प्रश्न उठाया कि किसान और सरकार के बीच यह तीसरा वर्ग (जमींदारों का) क्यों है ? इसकी क्या प्रासंगिकता है ? उन्होंने जमींदारों को सुरक्षा देने के प्रश्न पर सरकार की आलोचना की । कहने का आशय यह कि किसान भारतीय अर्थव्यवस्था के आधार हैं और उन दिनों इनकी हालत बहुत दयनीय थी, ऐसे में प्रेमचन्द अकेले ऐसे बुद्धिजीवी लेखक थे जिन्होंने किसान जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करके लिखा और लोगों तथा सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। डा. रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि -"हर कोई जानता है कि प्रेमचन्द समाज के सभी वर्गों की अपेक्षा किसानों के चित्रण में सबसे अधिक सफलता पाई है । वे हर तरह के किसानों को पहचानते थे, उनके विभिन्न आर्थिक स्तर, उनकी विभिन्न विचारधाराएं, उनकी विभिन्न सामाजिक समस्याएं - वे किसान जीवन के हर कोने से परिचित थे । जैसी उनकी जानकारी असाधारण थी, वैसा ही किसानों से उनका स्नेह भी गहरा था । किसानों के सम्पर्क में आने वाली शोषण की जंगी मशीन के हर कल-पुर्जे से वे वाकिफ थे ।"[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि अपनी इसी जानकारी और स्नेह के फलस्वरूप उन्होंने इतना जीवन्त साहित्य सृजित किया । फिर भी उन्हें लगता था कि अगर व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ तो बड़े किसान

---

1. प्रेमचन्द और उनका युग - रामविलास शर्मा, पृ० 177

बड़े होते जाएंगे और छोटे किसान मजदूर । आज उनकी मृत्यु के पचास वर्ष बाद हरित क्रान्ति के प्रदेशों, गुजरात, आन्ध्र प्रदेश और अन्य जगहों में किसान आत्महत्याएं कर रहे हैं । वे अपनी वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट हैं । आजाद भारत में भी प्रेमचन्द के प्रिय किसान छोटे-छोटे सुखों के लिए मोहताज हैं । आज भी वे `होरी` की तरह यह गाने को मजबूर हैं कि - `हिया जरत रहत दिन-रैन` ।

उपसंहार

उकताएं है कुछ कैदी, कुछ तोड़ रहे है जंजीरें

प्रेमचंद ने अपने लेखन से अपने समय की तस्वीर को बदलने का भरपूर प्रयास किया । उनके लिए लेखन मनोरंजन का साधन न होकर दुनिया को बदलने का हथियार था । उन्होंने साहित्य को प्रोपगैंडा माना और लिखा कि -" "प्रोपेगैंडा" बदनाम शब्द है; लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्य-वर्धक साहित्य प्रोपेगैंडा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिए, और इस तरह के प्रौपेगैंडा के लिए साहित्य से प्रभावशाली कोई साधन ब्रह्मा ने नहीं रचा वर्ना उपनिषद और बाइबिल दृष्टांतों से न भरे होते ।"[1] अपने एक अन्य लेख में उन्होंने लिखा है - "सभी लेखक कोई न कोई प्रौपेगैंडा करते है - सामाजिक, नैतिक या बौद्धिक । अगर प्रौपेगैंडा न हो तो संसार में साहित्य की जरूरत न रहे, जो प्रौपेगैंडा नहीं कर सकता वह विचारशून्य है; और उसे कलम हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं ।"[2] कहने का आशय यह कि कला के उचित प्रयोग के अनन्य समर्थक प्रेमचन्द साहित्य को "कला कला के लिए" की अवधारणा से जोड़ने के सख्त विरुद्ध थे । उनके लिए साहित्य कलाबाजी दिखाने का हुनर न होकर सामाजिक बदलाव का अस्त्र था । यही कारण है कि अपने पूरे विवेचनात्मक लेखन में वे एक सजग दृष्टि के साथ भारतीय समाज की कमजोरियों और अच्छाईयों का मूल्यांकन करते है । जहाँ-जहाँ आवश्यकता पड़ती है, खुलकर आम जनता का पक्ष लेते है ।वे वह मार्ग सुझाते है जिस पर चलकर राष्ट्र उन्नति कर सके ।

---

1. साहित्य का उद्देश्य - पृ. 118
2. विविध प्रसंग - भाग-3, पृ. 122

अपने विवेचनात्मक लेखन में वे स्त्री की परतन्त्रता को पुरूष समाज का कलंक बताते है और रेखांकित करते हैं कि जब तक स्त्रियों का समुचित विकास नहीं होगा, समाज में कोई उन्नति नहीं हो सकती । स्त्रियाँ सिर्फ बच्चा ही पैदा नहीं कर सकतीं, वे पुरूष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर जीवन के विस्तृत क्षेत्र परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए अनेक श्रेष्ठ कार्य संपादित कर सकती हैं । उन्होंने परतंत्र भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन में स्त्रियों की विशेष भूमिका को महत्व देते हुए उनके योगदान को सराहा । उन्होंने यह जोर देकर रेखांकित किया कि पुरूष के साथ-साथ स्त्री-शिक्षा पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है । स्त्रियों को पीछे छोड़कर कोई भी राष्ट्र आगे नहीं जा सकता । उन्होंने गंभीरतापूर्वक दहेज समस्या, वेश्या समस्या और विधवा समस्या पर विचार किया और माना कि इन समस्याओं की जड़ में पुरूष का अहं, उसकी भोग की आकांक्षा और स्त्री पर शासन की भूख ही है । पुरूष किसी भी हालत में स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व की चाहत नहीं रखता क्योंकि इससे उसकी सपनीली दुनिया में "ब्रेकर" लग जाता है । वह इसी प्रचार में अपना भला समझता है कि - "जिमि स्वतन्त्र भई विगरहिं नारी ।" प्रेमचन्द ने इस मानसिकता पर प्रश्न-चिह्न खड़ा किया और स्त्री के व्यक्तित्व और सतीत्व को उसकी "देह की पवित्रता" से जोड़ने वालों की जमकर खबर ली । यद्यपि अपने कथात्मक लेखन में स्त्री को लेकर उन्होंने कुछ विरोधी बातें भी कही हैं ।[1] फिर भी अपने सम्पूर्ण लेखन में वे "समाज की इस आधी आबादी" के पक्ष में खुलकर खड़े होते हैं । खुशी है कि आजकल स्त्रियाँ पुरूष द्वारा लगाए प्रतिबन्धों को लाँघकर बाहर आ रही हैं ।

---

1. गोदान - पृ. 131

प्रेमचन्द एक समतामूलक समाज की इच्छा रखने वाले मनुष्यधर्मी लेखक थे । उनके लिए यह असहनीय था कि समाज का कोई वर्ग (वर्ण) अछूत कहकर किनारे कर दिया जाय । वे किसी वर्ग के अछूत होने की प्रक्रिया को पूरी सामाजिक व्यवस्था से जोड़कर देखते थे और मानते थे कि हिन्दू समाज के तथाकथित उच्चवर्ण के लोगों के निहित स्वार्थों ने एक बड़े वर्ग को "नीचवर्ण" बनाया है । ये लोग अपनी सेवा के लिए यह इच्छा रखते हैं कि "अछूत वर्ण" समाज में बना रहे । प्रेमचन्द ने इस मानसिकता का खुलासा करते हुए "वर्ण-व्यवस्था को हिन्दू समाज का कोढ़" बताया । उन्होंने वर्णव्यवस्था के आधार पर अपनी रोटी सेंकने वालों को आगाह करते हुए लिखा कि - "पुरोहितों के प्रभुत्व के दिन अब बहुत थोड़े रह गए हैं और समाज और राष्ट्र की भलाई इसी में है कि जाति से यह भेद-भाव, यह एकांगी प्रभुत्व, यह खून चूसने की प्रवृत्ति मिटाई जाये, क्योंकि जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, राष्ट्रीयता की पहली शर्त वर्ण व्यवस्था, ऊँच-नीच के भेद और धार्मिक पाखण्ड की जड़ खोदना है ।"[1] आज प्रेमचन्द के इस कथन की प्रासंगिकता और बढ़ गई है । पूरे देश में जिस ओर जाइए धार्मिक पाखण्ड और जातिवाद की हवा मिल जाएगी । प्रेमचन्द को हिन्दू समाज के विषय में कोई भ्रम न था । वे इस समाज की जोंकों को अच्छी तरह पहचानते थे और वे जहाँ-जहाँ लगकर खून चूस रही थीं, वहाँ-वहाँ नमक डालने की बात कर रहे थे; ताकि उस समाज को, जो धार्मिक पाखण्डों और अन्धविश्वासों की अंधेरी खाइयों में गिर पड़ा है, उजाले में लाया जा सके । उन्होंने राष्ट्रीयता का बिगुल बजाने वालों को लक्ष्य करते हुए लिखा कि -

---

1. विविध प्रसंग - भाग-2, पृ. 475

"और हम जिस राष्ट्रीयता का स्वप्न देख रहे है, उसमें तो जन्मगत वर्णों की गन्ध तक न होगी; वह हमारे श्रमिकों और किसानों का साम्राज्य होगा, जिसमें न कोई ब्राह्मण होगा, न हरिजन, न कायस्थ, न क्षत्रिय । उसमें सभी भारतवासी होंगे, सभी ब्राह्मण होंगे, या सभी हरिजन होंगे ।"[1] प्रेमचन्द हिन्दू समाज के कलंकित आचार-व्यवहार के कटु आलोचक थे । यह सुखद है कि आज, कल के शोषित दलित शासक की भूमिका में आ गए हैं,लेकिन प्रेमचन्द की मूल चिन्ता अब भी वैसेही पड़ी हुई है । वे चाहते थे कि जातियाँ समाप्त हो जाएं और सिर्फ मनुष्य जाति एवं मानवधर्म रहे, लेकिन एक बड़े सामाजिक बदलाव के बाद भी हम एक ऐसे पतनोन्मुख समाज में जी रहे है जहाँ धर्म और जाति सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय हो गए हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रवृत्ति एक नई वर्णाश्रम व्यवस्था का सृजन कर रही है । प्रेमचन्द अवसरवादी राजनीति और सरकारों की मंशा खूब समझते थे । उन्होंने जाति व्यवस्था को लेकर अंग्रेज सरकार पर जो टिप्पणी की है, वह आज भी प्रासंगिक है । उन्होंने लिखा है - "सरकार भेद-भाव मिटाने में क्या सहायता देगी, उसे तो उसके स्थाई रखने में जैसे कोई विशेष आनन्द आता है । स्कूल में लडके का नाम लिखाने जायें तो तुरन्त उसकी जाति लिखानी पड़ेगी । ..... हिन्दू खुद जाति-भेद का जितना भक्त है, सरकार इस बात में उससे कोस भर आगे बढ़ी हुई है ।"[2] अत: ऐसी सरकारों से क्या उम्मीद । आज भी ऐसे लोगों की आवश्यकता है जो किसी जाति-धर्म में विश्वास न करके मनुष्य में विश्वास रखते है ।

---

1. विविध प्रसंग - भाग-2, पृ. 473
2. - वही - भाग-3, पृ. 153

प्रेमचन्द के समक्ष यह बात बिल्कुल साफ थी कि जो लोग जाति-भेद के समर्थक है, वे ही धर्म के अगुवा बनकर साम्प्रदायिकता का बिगुल बजाते है । उन्होंने अच्छी साम्प्रदायिकता और बुरी साम्प्रदायिकता का भेद करने वालों को दो टूक जवाब देते हुए लिखा - "अगर साम्प्रदायिकता अच्छी हो सकती है, तो पराधीनता भी अच्छी हो सकती है, मक्कारी भी अच्छी हो सकती है; झूठ भी अच्छा हो सकता है क्योंकि पराधीनता में जिम्मेदारी से बचत होती है, मक्कारी से अपना उल्लू सीधा किया जाता है और झूठ से दुनिया को ठगा जाता है । हम तो साम्प्रदायिकता को समाज का कोढ़ समझते है, जो हर एक संख्या में दलबन्दी कराती है और अपना छोटा सा दायरा बना सभी को उससे बाहर निकाल देती है ।"[1] आज भी साम्प्रदायिकता के सवाल का दो टूक जवाब यह कथन ही हो सकता है । यह : दुखद है कि जिस भारत का अस्तित्व कई धर्मों के लोगों के होने से बनता है, वहाँ साम्प्रदायिकता का जहर बहुत ज्यादा है । कहने की आवश्यकता नहीं कि साम्प्रदायिकता एक मनुष्य विरोधी धारणा है और किसी भी कोण से इसका समर्थन असंभव है । साम्प्रदायिकता का जन्म संकीर्णता से होता है और अक्सर यह धार्मिक संकीर्णता ही होती है । आज भारतीय समाज को इस संकीर्ण गलियारे से निकालना ही मनुष्यता के पक्ष में है ।

भारत में धर्म की विभिन्न अवधारणाएं प्रचारित है । संभवत: यही कारण है कि धर्म यहाँ बहुतों के लिए राजनीति की रोटी सेंकने का गर्म तवा है ।

---

1. विविध प्रसंग - भाग-3, पृ. 152-153

ये वे लोग है जिन्हें अपनी रोटी सेंकनी है, इससे मतलब नहीं रखना है कि चूल्हे में ईधन के रूप में मनुष्यता जल रही है या देश जल रहा है । ऐसे माहौल में धर्म का अर्थ बदल गया है । धर्म उसे कहते है - जो धारण करने योग्य हो, लेकिन आजकल धर्म लोगों को धारण करने लगा है । भारत की बहुसंख्यक शिक्षित और अशिक्षित जनता धर्म को परिभाषित करने के बजाय धर्म से परिभाषित होने लगी है । यहाँ का परिवेश बद से बदतर होता जा रहा है । पिछले आठ वर्षों से यह देश "मन्दिर-मस्जिद" की समस्या में जूझ रहा है । कुछ स्वार्थी लोगों ने इस देश को इस घृणित आग में झोंक दिया है । उनके कहने से लगता है जैसे किसी प्रायोजित स्थल पर मन्दिर न बना तो देश प्राकृतिक आपदाओं में घिर जाएगा । जिस देश में करोड़ों बेघर है, करोड़ों भूखे है, लोगों को सड़क पर सोने की जगह नहीं है, उस देश में मन्दिर-मस्जिद और धर्म के नाम पर यह ताण्डव देश को न जाने किन मानवीय ऊँचाइयों पर प्रतिष्ठित करना चाह रहा है । कहने की आवश्यकता नहीं कि धर्म की राजनीति करने वाले ऐसे ही पक्के राष्ट्रवादियों के विषय में प्रेमचन्द ने लिखा है - "और हममें जो पक्के राष्ट्रवादी है वे भी अपनी साम्प्रदायिकता का बिगुल बजाकर फूले नहीं समाते ।"[1] कितना दु:ख है कि आज ऐसे ही राष्ट्रवादी सत्ता का सुख भोग रहे है । ऐसे में प्रेमचन्द को बारबार पढ़ना और समाज के लिए उनके लेखन का उपयोग करना आवश्यक हो गया है । प्रेमचन्द ने अपने समय के किसानों की दुर्दशा का मार्मिक चित्रण-वर्णन किया है । आज भी इस देश में किसानों की स्थिति दयनीय ही बनी हुई है ।

---

1. विविध प्रसंग - भाग-3, पृ. 153

उन्हें अपनी दयनीय स्थिति में आत्महत्या तक करनी पड़ रही है । उपनिवेश-वादी-सामन्तवादी समय में ऐसी घटनाओं का एक तर्क होता था कि हम परतंत्र हैं किन्तु आज तो हम स्वतन्त्र है, फिर भी ऐसी दु:खद और विचलित करने वाली घटनाएं घटित हो रही हैं । प्रेमचन्द को इस बात का अंदेशा था, तभी तो उन्होंने किसानों के संगठन पर बल दिया था । आज भी किसानों के शक्तिशाली संगठन की आवश्यकता है । एक मजबूत संगठन और जुझारू संघर्ष ही उन्हें मंजिल दिला सकता है । प्रेमचन्द के साहित्य को ऐसी ही दृष्टि पाने के लिए पढ़ना आवश्यक है । प्रो॰ मैनेजर पाण्डेय ने उचित ही लिखा है - "प्रेमचन्द का कथा-साहित्य भारतीय जनता के जीवन-संघर्ष का दर्पण है और उसके मुक्ति-संघर्ष का दीपक भी । उसमें किसानों, मजदूरों, दलितों और स्त्रियों की कठिन जिंदगी के अनन्त संघर्षों के विभिन्न पक्षों का प्रामाणिक चित्रण है और साथ ही वह अनेक प्रकार के शोषण और दमन से छुटकारा पाने के लिए उनके संघर्षों का मार्गदर्शक भी है । प्रेमचन्द के समय में भारतीय जनता का मुक्ति संघर्ष दोहरा था । उस समय जनता एक ओर अंग्रेजी राज की गुलामी के विरुद्ध संघर्ष कर रही थी तो दूसरी ओर वह भारतीय समाज की सामन्ती संरचना से जुड़ी विभिन्न व्यवस्थाओं, रूढ़ियों और मान्यताओं से लड़ रही थी । प्रेमचन्द जनता के संघर्षों के तटस्थ चित्रकार नहीं हैं । उनके मन में जनता के लिए गहरी सहानुभूति है जो उनके चित्रण में भी झलकती है । उनके विवेचनात्मक लेखन में संघर्षशील जनता के साथ उनकी सहानुभूति और पक्षधरता बार-बार प्रकट हुई है । कलाकार और विचारक प्रेमचन्द के मन में जनता के लिए जितनी गहरी सहानुभूति है उतनी ही तीव्रघृणा ब्रिटिश साम्राज्यवाद और देशी सामन्तवाद के लिए है । आज के समय

में जब एक ओर से पूंजीवाद के भूमण्डलीकरण की आंधी और दूसरी ओर उत्तर आधुनिक बौद्धिकता की बाढ़ के आने से इस देश के बहुतेरे बुद्धिजीवी लेखक और पत्रकार स्वदेशी की भावना, जनता से सहानुभूति और अपनी जड़ों की पहचान से मुँह मोड़ते दिखाई देते है तब प्रेमचन्द की ओर लौटना, भारतीय होने और बनने की प्रक्रिया में सहायक हो सकता है ।"[1]

****

---

1. आंच - सम्पादकीय - पृ. 3-4 अंक 7 मार्च 1998

परिशिष्ट

आधार ग्रन्थ

प्रेमचन्द : विविध प्रसंग, भाग 2 - हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1978

: विविध प्रसंग, भाग 3

प्रेमचन्द : गोदान - सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1981

प्रेमचन्द : कर्मभूमि - प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 1988

प्रेमचन्द : सेवासदन - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1994

प्रेमचन्द : प्रेमाश्रम - हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1993

प्रेमचन्द : निर्मला - सुमित्र प्रकाशन, 1996

प्रेमचन्द : रचनावली, भाग 1 एवं 4, जनवाणी प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली -

प्रेमचन्द : गबन - राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

प्रेमचन्द : मानसरोवर - 1, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद 1982

: मानसरोवर - 2, ,,

: मानसरोवर - 3, ,,

: मानसरोवर - 4, ,,

: मानसरोवर - 5, ,,

: मानसरोवर - 6, ,,

: मानसरोवर - 7, ,,

: मानसरोवर - 8, ,,

प्रेमचन्द : रंगभूमि - सरस्वती प्रेस, इलहाबाद, 1971

प्रेमचन्द : इक्यावन श्रेष्ठ कहानियां - दिनमान प्रकाशन, दिल्ली, 1993

प्रेमचन्द : प्रतिज्ञा - हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971

सहायक ग्रन्थ

अमृतराय : प्रेमचन्द : कलम का सिपाही, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1981

अमृतराय : प्रेमचन्द की प्रासंगिकता, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1983

अमृतराय और मदनगोपाल (सं०) : प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1978

अयोध्यासिंह : भारत का मुक्ति संग्राम - मैकमिलन, 1977

इन्द्रनाथ मदान(सं०) : प्रेमचन्द प्रतिभा, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1967

इन्द्रमोहन कुमार सिन्हा : प्रेमचन्द युगीन भारतीय समाज, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1974

एच.डी. मालवीय : लैण्ड रिफार्म इन इंडिया, आल इंडिया कांग्रेस कमेटी, दिल्ली, 1954

एम. एच. सिद्दीकी : सेरियनअनरेस्ट इन नार्थ इंडिया : दी यूनाइटेड प्रोविंस (1918-22), विकास, नई दिल्ली, 1978

कमलकिशोर गोयनका : प्रेमचन्द विश्वकोश, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1981

कृष्णचन्द्र पाण्डेय : प्रेमचन्द के जीवन दर्शन के विधायक तत्व, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र० सं० 1970

कांतिमोहन : प्रेमचन्द और अवध समस्या, जनसुलभ साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, 1982

ज्ञान पाण्डेय : पेजेण्ट रिवोल्ट एण्ड इंडियन नेशनलिज्म : दी पेजेण्ट मूवमेंट इन अवध, 1919-1922, रंजीत गुहा द्वारा सम्पादित, सबाल्टर्न स्टडीज 1 में संकलित निबन्ध ।

गीतांजली पाण्डेय : वीटवीन टू वर्ल्ड्स - दिल्ली ।

जैनेन्द्र कुमार : प्रेमचन्द - एक कृति व्यक्तित्व, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 1967

त्रिभुवननारायण सिंह : `बनारस का वातावरण`, 1921 के असहयोग आन्दोलन की झांकियों में संकलित निबन्ध, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली - 1971

दयानारायण निगम : प्रेमचन्द की बातें, शचीरानी गुर्टू द्वारा संपादित `प्रेमचन्द और गोर्की` में संकलित निबन्ध, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1955

नन्ददुलारे वाजपेयी : प्रेमचन्द - साहित्यिक विवेचन, हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1956

प्रकाशचन्द गुप्त : आज का हिन्दी साहित्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1966

प्रकाशचन्द गुप्त : प्रेमचन्द, साहित्य अकादमी, दिल्ली - 1969 (प्रथम संस्करण)

बिन्दु अग्रवाल : हिन्दी उपन्यासों में नारी-चित्रण, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1968

महादेवी वर्मा : शृंखला की कड़ियां

मन्मथनाथ गुप्त : प्रेमचन्द - व्यक्ति और साहित्यकार, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1961

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह : प्रेमचन्द की रचनाओं पर किसान आन्दोलन का प्रभाव, `कलम` का प्रेमचन्द अंक, कलकत्ता

मेहता लज्जाराम शर्मा : आदर्श हिन्दू - तीन भाग, प्रयाग, 1914

रवीन्द्रनाथ ठाकुर : धर्म और साहित्य, राजधानी ग्रन्थागार, दिल्ली, 1963

राजेन्द्र प्रसाद : चम्पारन में महात्मा गांधी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1965

राधा अग्रवाल : प्रेमचन्द के कथा साहित्य में धर्मनिरपेक्षता की भावना, पराग प्रकाशन, दिल्ली

राबर्ट ओ स्वान : मुंशी प्रेमचन्द आफ लम्ही विलेज, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस, 1969

रामदीन गुप्त : उपन्यासकार प्रेमचन्द और गांधीवाद - हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, प्र० सं०, 1961

रामदीन गुप्त : प्रेमचन्द और गांधीवाद, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, 1961

रामविलास शर्मा : प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1989

शिवकुमार मिश्र : प्रेमचन्द, विरासत का सवाल, पीपुल्स लिटरेसी 1981

शिवदानसिंह चौहान : हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1954

शिवरानी देवी : प्रेमचन्द घर में, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1991

सदानन्द शाही (सं०) : कर्मभूमि, प्रेमचन्द साहित्य संस्थान, गोरखपुर, 1994

सीमोन द बुआ : द सेकेण्ड सेक्स, हिन्दी अनुवाद - स्त्री उपेक्षिता, अनुवादक - प्रभा खेतान, सरस्वती वि० प्रकाशन, दिल्ली, 1994

सुधीर चन्द्र : प्रेमचन्द : ए हिस्टोरिओग्राफिक व्यू, इकानामिक एण्ड पालिटिकल वीकली, 11 अप्रैल, 1981

सुमित सरकार : पापुलर मूवमेंट्स एण्ड मिड्ल क्लास लीडरशिप इन लेट कोलोनियल इंडिया : पर्सपेक्टिव एण्ड प्राब्लम्स आफ ए हिस्ट्री फ्राम बिलो, के. पी. बाग्ची एण्ड कम्पनी, कलकत्ता 1980

सुमित सरकार : मार्डन इंडिया, 1885-1947, मैकमिलन, दिल्ली, 1983

हंसराज रहबर : प्रेमचन्द - जीवन, कला और कृतित्व,
आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1962

पत्र-पत्रिकाएं

आंच - मार्च 1998

राष्ट्रीय सहारा - 25 जनवरी, 1997

फ्रन्ट लाइन - मार्च, अप्रैल 1998